न्मति-साहित्य-रत्न माला का अट्ठाईसवाँ रत्न

सत्य-दर्शन

प्रवचनकार

कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज

सम्पादक

पण्डित शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सन्मति-ज्ञान-पीठ,

लोहामण्डी, आगरा।

सम्वत् २०११

सन १९५४

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक—

बालकृष्ण बन्सल

बन्सल प्रेस, आगरा

सत्य-दर्शन

प्रकाशकीय

'सत्य-दर्शन' पाठकों के कर-कमलों में अर्पित करते हुए मेरा तन मन हर्ष से नाच रहा है। कारण, 'सन्मति-ज्ञान-पीठ' से प्रकाशित 'अहिंसा-दर्शन' जैसे अहिंसा का सजीव भाष्य है, ऐसे ही 'सत्य-दर्शन' सत्य का जीवित भाष्य है। जैन-धर्म की अहिंसा पर तो पर्याप्त विश्लेषण हो चुका है, अतः उसकी गुत्थियों को हम जल्दी ही सुलझा लेते हैं। परन्तु, सत्य पर अभी पारदर्शी दृष्टि से बहुत कम विवेचन हो पाया है। 'सत्य-दर्शन' उसी न्यूनता की पूर्ति करता है।

'सत्य-दर्शन, में कवि श्री जी जनता के सामने सत्य के अमर व्याख्याता बनकर आये हैं। सत्य का मूल केन्द्र कहाँ है ? उसकी कौन धारा कहाँ प्रवाहित हो रही है ? सत्य का मूल चिन्तन जीवन के किस मोड़ पर हमें क्या प्रेरणा देता है ? ऊपर से सत्य प्रतीत होता हुआ भी मूल में असत्-चिन्तन होने के कारण सत्य भी किस प्रकार असत्य बन जाता है ? एक सद्गृहस्थ के सत्य की लिए क्या-क्या मर्यादाएँ हैं ? आदि प्रश्नों-परिप्रश्नों के तथ्यपूर्ण समाधान पाठकों को 'सत्य-दर्शन' के उजले पृष्ठों पर मिल सकेंगे——ऐसा अधिकार की भाषा में कहा जा सकता है।

—रतनलाल जैन मीतल

मंत्री, सन्मति-ज्ञान-पीठ, आगरा।

निदर्शन

प्रस्तुत पुस्तक 'सत्य दर्शन' के प्रणेता मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज़ के प्रथम वार दर्शन मैंने आज से चार वर्ष पूर्व आगरा में किये। उस समय वह अपनी प्रवाहमयी वाणी में मानव-जीवन के उच्च आदर्शों की व्याख्या करने में तल्लीन थे और उनके सम्मुख बैठे हुए श्रोता मन्त्र-मुग्ध से हुए उनकी दिव्य वाणी का रसास्वादन अपने जीवन को सफल बना रहे थे। मैं भी उन श्रोताओं में से था। प्रवचन के पश्चात् साक्षात्कार हुआ और मैं उनकी अनु प्रतिभा से विभूषित सरलता पर मुग्ध होकर रह गया। अब तक मै अनेक साधुओं के दर्शन किये थे; मगर ऐसे सत्य-परायण साधु दर्शन कर कृत-कृत्य हो गया।

'सत्य-दर्शन' ऐसे ही वरिष्ठ साधु की महिमामयी वाणी है, ज लिपिबद्ध होकर पुस्तकाकार में हमारे सम्मुख है। इस पुस्तक क पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है, जैसे मुनि श्री ने सत्य के नाम पर ज कुछ भी जीवन में संजोया है, वह ज्यों-का-त्यों, संसार के प्राणिय के लाभार्थ, इस रूप में साकार कर दिया है। अन्य आचार्यों क भाँति उनकी दृष्टि में भी 'सत्य, भगवान् है' इसीलिये वह चाहते हैं, मोक्ष-दाता इस भगवान् का सभी प्राणी दर्शन कर सकें। 'सत्य की त्रिवेणी' में स्नान करते हुए अगर जीवन को आगे बढ़ा सकें, तो मुक्ति-पथ की ओर मुड़ चलें, जो मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है।

'सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण' कवि श्री ने बहुत ही सीधे और सरल रूप में हमारे सम्मुख रक्खा है। 'दुर्गंपथस्तत् कवयो

वदन्ति' नामक चौथे अध्याय में वह सत्य के इस रूप को और भी सुन्दर रूप में अंकित करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन अध्यायों को पढ़ते समय कुछ ऐसा जान पड़ने लगता है, जैसे चिन्तन की गहराइयों में हम सहज भाव से उतरते हुए सत्य के दिव्य प्रकाश के समीप शनैः शनैः पहुँच रहे हों। और उस मार्ग पर आगे बढ़ते हुये हमें शीघ्र ही यह भास होने लगता है—'सत्य, सत्य के लिए है।' जीवन की दुर्बलताओं को हमें दूर हटा देना होगा—तभी हमें सत्य के दर्शन हो सकेंगे। 'सत्य धर्म का मूल : मानवता' में है। वह 'साधना का मूल स्रोत' है और 'भावना का मूल स्रोत' भी वही है। 'व्यावहारिक सत्य' में हमें 'अन्ध-विश्वास' को त्याग देना होगा। तभी सत्य का यह कल्याणकारी मार्ग हमें हस्तगत हो सकेगा।

इन प्रवचनों के रूप में महामुनि की वाणी सरस, सरल और हृदयग्राही है। यही कारण है, जो वह कहीं भी प्रवाहहीन सी नहीं जान पड़ती। इसके विपरीत वह जीवनी शक्ति से ओत-प्रोत 'सत्य-दर्शन' के लिये अबाध गति से आगे बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है।

विश्वास है, महामुनि की इस दिव्य-वाणी को पाठक सहजभाव से ग्रहण कर अपने जीवन को 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' बनाने का सफल प्रयत्न करेंगे।

कंसद्वार, गोकुलपुरा,
आगरा।
ता० १५-६-१९५४

—शान्ति स्वरूप गौड़

विषय-सूची
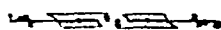
सत्य भगवान्

जब मनुष्य किसी भी प्रकार की साधना में अपने जीवन को प्रवृत्त करता है, तो उसे उस साधना के अनुरूप कुछ मर्यादाएँ स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करनी पड़ती हैं। वह मर्यादाएँ उसे एक प्रकार का बल प्रदान करती हैं, और उस बल को प्राप्त करके साधक अपनी साधना में अग्रसर होता हुआ अन्त में सफलता प्राप्त करता है। स्वेच्छापूर्वक अंगीकार की हुई मर्यादाओं के अभाव में मनुष्य का पर्याप्त संकल्प-बल जागृत नहीं होता और पर्याप्त संकल्प-बल के अभाव में कोई भी साधना पूरी तरह सफल नहीं हो पाती।

धार्मिक जीवन आरम्भ करने के सम्बन्ध में भी यही बात है। जो मनुष्य धर्म की साधना के लिए उद्यत हुआ है, उसके लिए भी अनेक मर्यादाओं का विधान है। उन मर्यादाओं का क्षेत्र, जैन-शास्त्रों के अनुसार अत्यन्त व्यापक है. और उनमें जीवन की सम्पूर्ण आचार-प्रणाली का समावेश हो जाता है। इस समय उन समस्त मर्यादाओं के उल्लेख करने और उनका विवेचन करने का अवसर नहीं है। अतएव मैं केवल उन मूलभूत मर्यादाओं पर ही विचार करूँगा, जो अन्य समस्त मर्यादाओं का प्राण हैं, और जिनके आधार पर ही उनका निर्माण हुआ है। जैन-शास्त्र की परिभाषा में उन मूलभूत मर्यादाओं को 'मूलगुण' की सार्थक संज्ञा दी गई है।

धर्म-साधना के क्षेत्र में कदम रखने वाले साधक के लिए जैन-शास्त्रों में बड़े-बड़े विधान हैं। साधक को कब खाना चाहिये, क्या खाना चाहिये और किस प्रकार खाना चाहिए ? कब और कैसे सोना चाहिए ? किस प्रकार चलना चाहिए ? कब, कौन-सा कार्य करना चाहिए ? आदि छोटी-छोटी बाह्य क्रियाओं के सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से मर्यादाएँ स्थिर की हुई हैं। उसके लिए मानसिक क्रियाओं की भी सूक्ष्म मर्यादा बतलाई गई है। परन्तु इन सब मर्यादाओं की मूलभूत मर्यादाएँ पाँच ही हैं। वह इस प्रकार है—(१) अहिंसा। (२) सत्य। (३) अस्तेय। (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, इन पाँच मर्यादाओं में ही समस्त आन्तरिक और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल आचार-विचार का अन्तर्भाव हो जाता है। जो साधक इन मर्यादाओं के प्रति निरन्तर सजग रहता है, वह अबाध रूप से अपनी साधना की मंजिल तय करता जाता है, और अन्ततः मानवीय विकास की चरम सीमा को स्पर्श करता है।

यद्यपि यह पाँचों मर्यादाएँ या मूलगुण अपने-आप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, तथापि गंभीर विचार करने पर यह भी स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन सब के मूल में भी एक ही भावना काम कर रही है। वह भावना अहिंसा की भावना है। सत्य, अस्तेय आदि को अहिंसा की ही एक-एक शाखा कहा जा सकता है।

असत्य भाषण करना पाप है, चोरी करना पाप है, अब्रह्मचर्य पाप है, ममता या आसक्ति पाप है; क्योंकि इन सबसे हिंसा होती है। इन पापों के सेवन से कभी पर-हिंसा होती है और कभी स्व-हिंसा होती है। स्व-हिंसा अर्थात् आत्मिक गुणों का विघात भी

पर-पीड़ा के समान पाप में गिना गया है और कहना चाहिये कि वह एक बड़ी भारी हिंसा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने और अन्य आचार्यों ने भी इस विषय में स्पष्ट उल्लेख किये हैं। अमृतचन्द्र कहते हैं—

अमृतवचनेऽपि तस्यानियतं हिंसा समवतरति।

—पुरुषार्थसिद्धच्युपाय, ९९

अर्थात्—असत्य भाषण का मूल कषाय है और जहाँ कषाय है वहाँ हिंसा होती ही है। अतएव असत्य भाषण में भी अवश्य हिंसा होती है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटैव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥

—पुरुषार्थ०, १०४

अर्थात्—हिंसा और चोरी की अव्याप्ति नहीं है, बल्कि जहाँ स्तेय है, वहाँ हिंसा अवश्य है; क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकृत द्रव्य का ग्रहण करने में कषाय का होना आवश्यक है।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां, तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा यौनौ, हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥

—पुरुषार्थ०, १०२

अर्थात्—जैसे तिलों से भरी नाली में तपाया हुआ लोहा डालने से तिल जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन-क्रिया से जीवों का विघात होता है।

इसी प्रकार—

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं, प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम्॥

—पुरुषार्थ०, ११९

अर्थात्—मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि अन्तरंग परिग्रह तो हिंसा के ही पर्यायवाची हैं, अतएव उनमें हिंसा स्वतः सिद्ध है। रहा बाह्य परिग्रह, सो उसके प्रति जो मूर्च्छा का भाव विद्यमान रहता है, वह भी निश्चित रूप से हिंसा ही है

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि असत्य, स्तेय आदि हिंसा-रूप होने के कारण ही पाप हैं। इस प्रकार साधना के लिए उद्यत हुए साधक को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न स्वरूपों में विद्यमान हिंसा से बचने का प्रयत्न करना होता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा की आराधना के लिए सत्य आदि की आराधना भी अनिवार्य है। अतएव अहिंसा की विवेचना के पश्चात् सत्य आदि की विवेचना स्वतः प्राप्त होती है।

अहिंसा आदि का जो क्रम प्राचीन शास्त्रकारों ने निर्धारित किया है, उसके अनुसार अहिंसा के पश्चात् सत्य का नंबर आता है। इसका आशय है—अहिंसा के द्वारा सत्य के द्वार पर पहुँचना।

जो सत्य की उपासना करना चाहते हैं, उन्हें अपने हृदय में अहिंसा को स्थान देना ही चाहिए। जब तक मनुष्य अहिंसा की भावना से मन में गद्गद् नहीं हो जाता है, दूसरे के दुःखों को अपने हृदय में स्थान नहीं देता है, जो स्वयं दूसरों को दुःख देता है, जो पर-पीड़ा को स्व-पीड़ा की भाँति समझ कर उससे विकल नहीं हो उठता है, वह अहिंसाव्रत का व्रती कैसे हो सकता है? मानना चाहिए कि उसका जीवन अहिंसामय नहीं बन पाया है, और जिसने अहिंसा को ग्रहण नहीं किया है, वह सत्य को भी स्वीकार नहीं कर सकता। यह कदापि संभव नहीं कि मन में अहिंसा को स्थान न दिया जाय और सत्य को स्थान दिया जा सके।

अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट है। अहिंसा की उर्वरा भूमि में ही सत्य का पौधा उग सकता है और पनप सकता है। हमारा समग्र जीवन-व्यवहार अहिंसा से ओतप्रोत होना चाहिए और ऐसा होने पर ही उसका वास्तविक विकास संभव है। इस रूप में हमारे जीवन के विकास के लिए अहिंसा एक प्रधान साधन है।

हमारे जीवन में सत्य का महत्व महान् है। लेकिन साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा में से यदि हम सत्य का प्रकाश ग्रहण करना चाहें, तो सत्य का वह महान् प्रकाश हमें नहीं मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमें अपने अन्तरतर की गहराई में दूर तक झाँकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैनधर्म ने एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है। विचार कीजिए, उस क्रान्ति का क्या रूप है?

हमारे जो दूसरे साथी हैं, दर्शन हैं, और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमें ईश्वर को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बनाकर चलती हैं। उनके अनुसार यदि ईश्वर को स्थान नहीं रहा, तो साधना का भी कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु जैनधर्म ने इस प्रकार ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना है।

तो फिर जैनधर्म की साधना का केन्द्र क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दों के अनुसार यह है—

तं सच्चं खु भगवं।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, द्वि० सं०

मनुष्य ईश्वर के रूप में एक अलौकिक व्यक्ति के चारों ओर घूम रहा था। उसके ध्यान में ईश्वर एक विराट व्यक्ति था और उसी की पूजा एवं उपासना में वह अपनी सारी शक्ति और समय

व्यय कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी गलत और कभी सही रास्ते पर भटका और लाखों धक्के खाता फिरा! जिस किसी भी विधि से उस को प्रसन्न करना उसके जीवन का प्रधान और एक मात्र लक्ष्य था। इस प्रकार हजारों गलतियाँ साधना के नाम पर मानव-समाज में पैदा हो गई थीं। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर आगे आये और उन्होंने एक ही बात, बहुत थोड़े से शब्दों में कह कर समस्त भ्रान्तियाँ दूर कर दीं। भगवान् कौन है? महावीर स्वामी ने बतलाया कि वह भगवान् तो सत्य ही है। सत्य ही आपका भगवान् है। अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रखकर ही करो। अर्थात् सत्य होगा तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना संभव नहीं है।

तो हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण में उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोड़कर केवल ईश्वर की पूजा में लगा और उसी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील हुआ तो ठोकरें खाता फिरा और भटकता रहा।

आज हजारों मन्दिर हैं और वहाँ ईश्वर के रूप में कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है, किन्तु वहाँ भगवान सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। चाहे कोई जैन हो या अजैन हो, मूर्त्तिपूजा करने वाला हो, या न हो, अधिकांशतः वह अपनी शक्ति का उपयोग एक मात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है, उसमें वह न न्याय को देखता है, न अन्याय का विचार करता है। हम देखते हैं और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर में जाकर ईश्वर को अशर्फी चढ़ाएँगे और हजारों-लाखों के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे; किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो जायगी? मन्दिर के बाहर, द्वार पर, गरीब लोग पैसे-पैसे के लिए सिर

झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामद करते हैं, धक्कामुक्की होती है; परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ और उन दरिद्रों पर घृणा एवं तिरस्कार बरसाता हुआ, अपने घर का रास्ता पकड़ता है। इस प्रकार जो पिता है उसके लिए तो लाखों के मुकुट अर्पण किये जाएँगे, किन्तु उसके लाखों बेटों के लिए, जो पैसे-पैसे के लिए दर-दर भटकते फिरते हैं, कुछ भी नहीं किया जाता। उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नहीं दिखलाई जाती।

जनसाधारण के जीवन में यह विसंगति आखिर क्यों और कहाँ से आई है? आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि इस विसंगति के मूल में सत्य को स्थान न देना ही है। क्या जैन और क्या अजैन, सभी आज बाहर की चीजों में उलझ गये हैं। परिणाम-स्वरूप धूमधाम मचती है, क्रियाकाण्ड का आडम्बर किया जाता है, अमुक को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को और कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने में हजारों-लाखों पूरे हो जाते हैं। लेकिन आपका कोई साधर्मी भाई है, वह जीवन के कर्त्तव्य के साथ जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोड़ी-सी सहायता भी मिल जाय, तो वह जीवन के मार्ग पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्माण कर सकता है; किन्तु उसके लिए आप कुछ भी नहीं करते!

तात्पर्य यह है कि जब तक सत्य को जीवन में नहीं उतारा जायगा, सही समाधान नहीं मिल सकेगा, जीवन में व्यापी हुई अनेक असंगतियाँ दूर नहीं की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्राप्त नहीं किया जा सकेगा।

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते फिरते थे और देवी-देवताओं के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं करते थे। भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान है! भगवान् का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य को खोजने की प्रेरणा थी। सत्य अपने अन्दर ही छिपा है। उसे कहीं बाहर ढूंढने के बजाय भीतर ही खोजना है। जब तक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा और अन्दर के सत्य की झाँकी नहीं होगी और भीतर का देवता तुम्हारे भीतर प्रकाश नहीं फैलाएगा, तब तक तुम तीन काल और तीन लोक में कभी भी, कहीं पर भी ईश्वर के दर्शन नहीं पा सकोगे।

कोई धनवान् है, तो उसको भी बतलाया गया कि साधना अन्दर करो और जिसके पास एक पैसा भी नहीं, चढ़ाने के लिए एक चावल भी नहीं, उसे भी कहा गया कि तुम्हारा भगवान् भीतर ही है। भीतर के उस भगवान् को चढ़ाने के लिए चावल का एक भी दाना नहीं, तो न सही। इसके लिए चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। उसे चांदी-सोने की भूख नहीं है। उसे मुकुट और हार पहरने की भी लालसा नहीं है। उसे नैवेद्य की भी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र अपनी सद्भावना के स्वच्छ और सुन्दर सुमन उसे चढ़ाओ और हृदय की सत्यानुभूति से उसकी पूजा करो। यही उस देवता की पूजा की सर्वोत्तम सामग्री है, यही उसके लिए अनुपम अर्घ्य है। इसी से अन्दर का देवता प्रसन्न होगा। इसके विपरीत यदि बाहर की ओर देखोगे, तो वह तुम्हारा अज्ञान होगा। भीतर देखने पर तुम्हें आत्मा-परमात्मा की शक्ल बदलती हुई दिखलाई देगी! आपके अन्दर के राक्षस—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि, जो हजारों तलवारें लेकर तुम्हें तबाह कर रहे हैं, सहसा अन्तर्धान हो जाएँगे। अन्दर का देवता रोशनी देगा, तो अन्धकार में प्रकाश हो जाएगा।

इस प्रकार वास्तव में अन्दर ही भगवान् मौजूद है। बाहर देखने पर कुछ भी हाथ नहीं लगने वाला है। एक साधक ने कहा है—

ढूंढन चाल्या ब्रह्म को, ढूंढ फिरा सब ढूंढ ।
जो तू चाहे ढूंढना, इसी ढूंढ में ढूंढ ॥

तू ब्रह्म को और ईश्वर को ढूंढने केलिए चला है और दुनिया-भर की जगह तलाश कर चुका है और इधर-उधर भटकता फिरता है। कभी नदियों के पानी में और कभी पहाड़ों की चोटी पर और सारी पृथ्वी के ऊपर ईश्वर की तलाश करता रहा है, किन्तु वह कहाँ है? यदि तुझे ढूंढना है, वास्तव में तलाश करना है और सत्य की झांकी अपने जीवन में उतारनी है, तो सब से बड़ा मन्दिर तेरा शरीर ही है, और उसी में ईश्वर विराजमान है। शरीर में जो आत्मा निवास कर रही है, वही सब से बड़ा देवता है। यदि उसको तलाश कर लिया तो फिर अन्यत्र कहीं तलाश करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तुझे अवश्य ही भगवान के दर्शन हो जायेंगे।

मन मथुरा, तन द्वारका, और काया काशी जान ।
दस द्वारे का देहरा, तामें पीव पिछान ॥

—संत कबीर

अगर तूने अपने-आपको राक्षस बनाए रक्खा और हैवान बनाए रक्खा और फिर ईश्वर की तलाश करने को चला, तो तुझे कहीं कुछ नहीं मिलना है।

संसार बाहर के देवी-देवताओं की उपासना के मार्ग पर चला जा रहा है। उसके सामने भगवान् महावीर की साधना किस रूप में आई? यदि हम जैनधर्म के साहित्य का भली-भाँति चिन्तन करेंगे तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओं को

ओर जाने के लिए है, या देवताओं को अपनी ओर लाने के लिए है? वह देवताओं को साधक के चरणों में झुकाने के लिए चला है, साधक को देवताओं के चरणों में झुकाने के लिए नहीं चला है। सम्यक् श्रुत के रूप में प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ में ही बतलाती है:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

दशवैकालिक १।१

धर्म अहिंसा है। धर्म संयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामंगलमय धर्म है। जिसके जीवन में इस धर्म की रोशनी पहुँच चुकी, देवता भी उसके चरणों में नमस्कार करते हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैनधर्म ने एक बहुत बड़ी बात संसार के सामने रक्खी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हें मिली हुई हैं, उन्हें अगर तुम देवताओं के चरणों में अर्पित करने चले हो, तो उन्हें निर्माल्य बना रहे हो। लाखों और करोड़ों रुपये देवी-देवताओं को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हें ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आसपास की जनता ही ईश्वर के रूप में है। छोटे-छोटे दुधमुहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दुःखी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

तो जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप में अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर में सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनों को तोड़ देगा और कोई ...

बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओं के बंधनों को नहीं तोड़ सकता। वस्तुतः अन्तरंग के बंधनों को तोड़ने की शक्ति अन्तरंग आत्मा में ही है।

इस प्रकार जैनधर्म देवताओं की ओर नहीं चला; किन्तु देवताओं को इन्सानों के चरणों में लाने के लिए चला है।

हम पुराने इतिहास को और अपने आसपास की घटनाओं को देखते हैं, तो मालूम होता है कि संसार की प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है और समय पर असमर्थ और निकम्मा साबित होती है। किसी में रूप-सौन्दर्य है। जहाँ वह बैठता है, हजारों आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी में या सभा-सोसायटी में उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु क्या वह सदा रहने वाला है? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण-भर में विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी में मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नहीं है।

इसके बाद धन का बल आता है, और मनुष्य उसको लेकर चलता है। मनुष्य समझता है कि सोने की चमक इतनी तेज है कि उसके बल पर वह सभी कुछ कर सकता है। पर वास्तव में देखा जाय तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी? जरासंध के पास सोने की क्या कमी थी? दुनिया के लोग बड़े-बड़े सोने के महल खड़े करते आये और संसार को खरीदने का दावा करते रहे, संसार को ही क्या ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे; किन्तु सोने-चांदी के सिक्कों का वह बल कब तक रहा? उनके जीवन में ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लंका रावण के देखते-देखते

ही ध्वस्त हो गई। तो धन की भी शक्ति है किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नहीं आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एवं परिवार-बल की जाँच-पड़ताल कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक हद तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ़ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जब कि हजारों की सभा के बीच द्रौपदी खड़ी है। उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने को भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। संसार के सब से बड़े शक्तिशाली पुरुष और नातेदार बैठे हैं; किन्तु सब के सब जड़ बन गये हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचों पाण्डव भी नीचा मुँह किये, पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे हैं। उनमें से कोई भी काम नहीं आया। फिर द्रौपदी की लाज किसने बचाई? ऐसे विकट एवं दारुण प्रसंग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खड़ा रहना पड़ता है।

मनुष्य दूसरों के प्रति मोहमाया रखता है, और सोचता है कि यह वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव में कोई काम नहीं आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप में मिले असाधारण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आये। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढ़ा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने में समर्थ हो सका।

इस रूप में हम देखते हैं कि ईश्वर के पास जाने में, ईश्वरत्व की उपलब्धि करने में न रूप, न धन और न परिवार का ही बल काम आता है, और न बुद्धि का बल ही कारगर साबित होता है। द्रौपदी की बुद्धि का चातुर्य भी क्या काम आया? आखिरकार, हम देखते हैं कि उसके चीर को बढ़ाने के लिए देवता आ गये।

मगर हमें यह जानना होगा कि देवताओं में यह प्रेरणा जगाने वाला, उन्हें खींच लाने वाला कौन था? इस प्रश्न का उत्तर है सत्य। सत्य की दैवी शक्ति से ही देवता खिंचे चले आये।

दुनिया-भर के आँधे-सीधे काम हो रहे हैं। देवता कब आते हैं? मगर द्रौपदी पर संकट पड़ा, तो देवता आ गए। सीता को काम पड़ा तो भी देवता आ पहुँचे। सीता के सामने अग्नि का कुंड धधक रहा था। उसमें प्रवेश कराने के लिए उसके पति ही आगे आये, जिन पर सीता की रक्षा का उत्तरदायित्व था! राम कहते हैं -'सत्य का जो कुछ भी प्रकाश तुम्हें मिला है, उसकी परीक्षा दो! ऐसे विकट संकट के अवसर पर सीता का सत्य ही काम आता है।

इन घटनाओं के प्रकाश में हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। और भारत के दर्शनकारों और चिन्तकों ने भी कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ हैं और सत्य का बल एक तरफ है!

संसार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक तो साथ देती हैं और उससे आगे जबाब दे जाती हैं। उस समय सत्य का ही बल हमारा आश्रय बनता है, और वही एक मात्र काम आता है।

जब मनुष्य मृत्यु की आखिरी घड़ियों में पहुँच जाता है, तब उसे न धन बचा पाता है, न ऊँचा पद तथा परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सब के सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु कोई-कोई महान् आत्मा उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नहीं जानता है! अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ संसार से विदा होता है; तो बताओ उसे कौन रोशनी देता है? संसार के सारे सम्बन्ध टूट रहे हैं, एक कौड़ी भी साथ नहीं

जा रही है और शरीर की एक हड्डी का टुकड़ा भी साथ नहीं जा रहा है, बुद्धि-बल भी वहीं समाप्त हो जाता है, फिर भी वह संसार से हँसता हुआ विदा होता है ! हाँ, सत्य का अलौकिक प्रकाश ही उसे यह बल प्रदान करता है।

बहुत से विचारकों से बातें करने का अवसर आया है। कम्यूनिस्टों से भी बातें की हैं और मैंने उनसे पूछा कि संसार-भर की समस्याओं का हल आखिरकार किसके बल पर है ! कौन सी चीज है कि जिसका अवलम्बन लेकर मनुष्य मौत के मुँह में भी हँसता हुआ चला जाता है ? किसकी प्रेरणा से मनुष्य अपने प्राणों का बलिदान करने के लिए उद्यत हो जाता है और बलिदान कर देता है। आत्म-बलिदान या प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा का जनक कौन है ? आखिर यह प्रेरणा मनुष्य को सत्य और धर्म के द्वारा ही प्राप्त होती है। सत्य और धर्म का प्रकाश अगर हमारे जीवन में जगमगा रहा है, तो हम दूसरे की रक्षा करने के लिए अपने अमूल्य जीवन की भेंट देकर और मौत का आलिंगन करके भी संसार से मुस्कराते हुए विदा होते हैं। यह प्रेरणा और यह प्रकाश सत्य और धर्म के सिवाय और कोई देने वाला नहीं है। सत्य जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी प्रेरणा प्रदान करता है। हमारे आचार्यों ने कहा है:—

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

कहने को तो लोग कुछ भी कह देते हैं। कोई कहते हैं कि जगत् साँप के फन पर टिका है और किसी की राय में बैल के सींग पर। मगर यह सब कल्पनाएँ हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है। तथ्य यह है कि इतना विराट संसार पृथ्वी पर टिका हुआ है। पृथ्वी का अपने-आप में यह कायदा और नियम है कि जब तक

वह सत्य पर टिका हुई है, तब तक सारा संसार उस पर खड़ा हुआ है।

सूर्य समय पर ही उदित और अस्त होता है और संसार की यह अनोखी घड़ी निरन्तर चलती रहती है। इसकी चाल में जरा भी गड़बड़ हो जाय, तो संसार की सारी व्यवस्थाएँ ही बिगड़ जाएँ। मगर प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर ही होता है।

इसी प्रकार यह वायु भी केवल सत्य के बल पर ही चल रही है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि जीवन की जितनी भी साधनाएँ हैं। वे चाहे प्रकृति की हों या चैतन्य की हों, सब की सब अपने-आपमें सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार क्या जड़ प्रकृति और क्या चेतन, सभी सत्य-प्रतिष्ठित हैं। चेतन जब तक अपने चैतन्य-सत्य की सीमा में चल रहा है तो कोई गड़बड़ नहीं होने पाती। और जड़ प्रकृति भी जब तक अपनी सत्य की धुरी पर चल रही है, सब कुछ व्यवस्थित चलता है। जब प्रकृति में तनिक-सा भी व्यतिक्रम होता है, तो भीषण संहार हो जाता है। एक छोटा-सा भूकंप ही प्रलय की कल्पना को प्रत्यक्ष बना देता है। तो संसार-भर के नियम और कायदे सब सत्य पर प्रतिष्ठित हैं।

हमारा जीवन क्या है ? शरीर में जब तक गर्मी रहती है, तब तक उसे जीवित समझा जाता है, और जब गर्मी निकल जाती है, तो उसे मरा हुआ करार दे दिया जाता है। जब तक गर्मी थी तो शरीर पर एक मक्खी का बैठना भी बर्दाश्त नहीं होता था। शरीर के किसी भी भाग पर मच्छर बैठजाय तो तत्काल हमें चेतना होती थी। किन्तु जब जीवन निकल जाता है, गर्मी निकल जाती है, तो फिर मक्खी-मच्छर की तो बात ही क्या, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी आह नहीं निकलती। वह वहीं सड़ने के लिए और

गलने के लिए है, पनपने के लिए नहीं है। मुर्दा शरीर में घाव लग जाय तो वह भरने के लिए नहीं होता किन्तु और चौड़ा होने के लिए होता है। तो हम समझते हैं कि जब तक शरीर में जीवन-शक्ति रहती है, वह काम देता है अन्यथा बेकाम है। परन्तु हमारे जीवन का एक और भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, और वह है सत्य। जीवन में सत्य रहता है तो दुनिया-भर के बल सही हो सकते हैं और दुरुस्त हो सकते हैं। जीवन में हिंसा है, क्रोध है, लोभ-लालच है और वासना है। ये सब जीवन के घाव हैं। सत्य के अभाव में ये दुरुस्त नहीं होने के। यही नहीं, बल्कि ये जीवन को और भी गलत बना देते हैं। सत्य के अभाव में यह घाव बढ़ते चले जाते हैं और छिपे-छिपे उनका बढ़ना मालूम ही नहीं होता।

भगवान् महावीर ने बतलाया है कि सत्य-रूप जीवन की विद्यमानता में हिंसा, काम, क्रोध आदि के घावों को ठीक किया जा सकता है। सत्य की उपासना करने वाला कुछ भी गड़बड़ कर देगा तो भी कहेगा कि मुझ से भूल हुई है। जो भूल को भूल समझता है, वह उस भूल को दुरुस्त भी कर लेगा। मनुष्य एक बार चाहे हैवान ही क्यों न मालूम होने लगे, वह कितनी ही बड़ी गलती क्यों न कर बैठे, पर उसमें यदि सचाई है और वह यह कहने को तैयार हो जाता है कि मुझसे भूल हो गई है, तो आप समझिए कि उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ है। घाव कितना ही गहरा क्यों न हो, चोट कितनी ही गंभीर क्यों न हो, कितना ही क्षत-विक्षत क्यों न हो गया हो, फिर भी सत्य उसकी मरहमपट्टी कर सकता है, और फिर उसे जीवन-मार्ग पर ले आ सकता है।

इसके विपरीत यदि सत्य निकल गया है और मनुष्य अपनी गलती को गलती के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो गलती चाहे छोटी हो या मोटी, मिटने वाली नहीं है। वह

अन्दर ही अन्दर अधिकाधिक गहरी बनती जायगी, जीवन सड़ता जायगा। इस विषय में हमारे यहाँ एक बड़ा सुन्दर प्रसंग आता है। पुराने आचार्यों ने इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है।

एक बार भगवान् महावीर का समवसरण राजगृही में था। समवसरण सभा में बड़े-बड़े आत्मत्यागी, वैरागी महापुरुष भी मौजूद थे और साधारण श्रेणी की जनता भी मौजूद थी। भगवान् धर्मोपदेश दे रहे थे। उनके मुख-चन्द्र से अमृत बरस रहा था। सभी लोग सतृष्ण भाव से, प्रभु की वाणी को हृदयस्थ कर रहे थे। वहाँ एक चोर भी जा पहुँचा था। वह एक कोने में बैठा रहा और प्रभु के प्रवचन-पीयूष का पान करता रहा। यथा-समय प्रवचन समाप्त हुआ और लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये। तब भी वह चोर वहीं बैठा रहा। एक सन्त ने उससे पूछा—' कैसे बैठे हो अभी तक ?"

चोर ने कहा—"मैंने आज प्रथम बार महान् सन्त की वाणी सुनी है।"

सन्त बोले—"सुनने के बाद कुछ ग्रहण भी किया है या नहीं ? जीवन भी बनाया है या नहीं ? रत्नों की वर्षा तो हुई, मगर तुम्हारे हाथ भी एकाध रत्न लगा या नहीं ? न लग सका तो वह वर्षा तुम्हारे क्या काम आई ? एक रत्न तो कम से कम ले ही लो।"

चोर सोच में पड़ गया—मैं क्या लूँ ? तभी उसके अन्दर का सत्य-देवता स्पष्ट रूप में बोल उठा—"भगवन् ! आपकी वाणी अमृतमयी है। वह राक्षस को भी देवता बनाती है, किन्तु मैं उसे ग्रहण नहीं कर सकता। मैं चोर हूँ और चोरी करना मेरा धन्धा है। मेरे जीवन के साथ भगवान् की वाणी का मेल कहाँ ? चोरी छोड़ दूँ तो परिवार खाएगा क्या ? और चोरी नहीं छोड़ सकता तो पाया क्या ?"

सन्त मनोविज्ञान के बड़े आचार्य थे। मनुष्य के मन को परखने की कला भी एक बड़ी कला है। मैं समझता हूँ, हीरों और जवाहरात को परखते-परखते जीवन गुजर जाता है, किन्तु मनुष्य को परखने की कला नहीं आती। इन्सान को परखने की कला के अभाव ने ही संसार में अव्यवस्था पैदा कर दी है। जवाहरात को परखना आता है या नहीं, यह कोई मूल्यवान् बात नहीं है, परन्तु मनुष्य को परखने वाला यदि एक भी आदमी परिवार में है, तो वह सब का जीवन शानदार बना सकता है?

हाँ, तो वे सन्त थे मनुष्य को परखने वाले। उन्होंने कहा—"चोरी नहीं छोड़ सकते हो तो दूसरी चीज़ तो छोड़ सकते हो?"

चोर ने उत्साह के साथ कहा—"हाँ, दूसरी चीज छोड़ सकता हूँ।"

सन्त बोले—"अच्छा और चीज छोड़ो। चोरी छोड़ने के लिए ही हमारा आग्रह नहीं है। उसे नहीं छोड़ सकते तो न सही! देखो, तुमने बहुत सचाई के साथ और ईमानदारी के साथ जीवन का बहीखाता और जीवन का वह पृष्ठ जिसमें चोरी लिखी जाती है, खुला रख छोड़ा है, मैं चाहता हूँ कि तुम उसी नियम को ग्रहण कर लो। देखो, सत्य बोला करो, झूठ मत बोलना।"

चोर उन सन्त की वाणी से इतना प्रभावित हुआ कि वह कहने लगा "अच्छा मैं सत्य बोलने का नियम ले लूँगा, आप उसे दिला दीजिए।"

सन्त ने नियम दिला दिया और कहा देखो, नियम ले रहे हो। नियम ले लेना सहज है, किन्तु उसका पालन करना कठिन बात है। नियम पालने के लिए भी सत्य की जरूरत है। ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं के पीछे सत्य का बल होता है, तभी वह निभती है। यदि सत्य न हुआ तो कोई भी प्रतिज्ञा नहीं निभ सकती।"

चोर ने कहा—"नहीं, महाराज ! मैं प्रण कर रहा हूँ और प्राणों के समान उसकी रक्षा करूँगा।"

इस प्रकार प्रतिज्ञा लेकर चोर अपने घर चला गया। वह चला तो गया, पर प्रभु के चरणों में बैठ कर उसने जो वाणी सुनी थी, उससे उसके मन में एक लहर पैदा हो गई। घर गया तो देखा कि अभी मसाला मौजूद है, फिर क्यों चोरी करूँ ? क्यों किसी को पीड़ा पहुँचाऊँ ? जब तक रहेगा तब तक खाऊँगा, जब नहीं रहेगा तो फिर चोरी की बात सोचूंगा।

इस तरह सोचकर वह घर में पड़े सामान को खाता रहा। एक दिन जब वह समाप्त हो गया तो विचार किया—चलना चाहिए। इधर-उधर चलने का विचार हो गया, तो मन्थन शुरू हुआ।

महापुरुष मनुष्य के अन्तःकरण में प्रकाश की एक छोटी-सी किरण डाल देते हैं और वह धीरे-धीरे चुपचाप विराट रूप ग्रहण कर लेती है। पृथ्वी पर एक छोटा-सा बीज फैंक दिया जाता है, तो वह धीरे-धीरे पनपता हुआ एक दिन महान् वृक्ष बन जाता है। जीवन में भी यही गति होती है। जीवन में विचार का छोटा-सा बीज पड़ जाता है, और यदि उसमें पनपने की शक्ति होती है, तो वह एक दिन विशाल रूप धारण कर लेता है। तो चोर के मन में मन्थन आरम्भ हुआ। वह सोचने लगा—"मैं अहिंसा के देवता की वाणी सुनकर आया हूँ। चोरी करने में हिंसा अनिवार्य है; परन्तु क्या यह संभव नहीं कि मेरा काम भी बन जाय और हिंसा भी कम से कम हो ? इस तरह चोरी भी उसे अहिंसा की बात सुनाने लगी।

चोर ने सोचा—"किसी साधारण आदमी के घर चोरी करूंगा, तो उसे कठिनाई होगी। न मालूम बेचारा कब तक रोएगा और अपने परिवार का निर्वाह कैसे करेगा ? अतः चोरी करनी ही

है तो ऐसी जगह करनी चाहिए कि गहरा हाथ पड़ जाय तो भी घर का मालिक रोने न बैठे। तो फिर किसके यहाँ जाऊँ ?

—हाँ, राजा हैं। उनके यहाँ दिन-रात पराया माल आता रहता है। राजा के खजाने से कुछ ले भी लिया, तो क्या कमी पड़ने वाली है ? हाथी के खाने में से चिउँटी एक दो दाने उठा लाए तो हाथी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं और चिउँटी का काम बन जाता है। अतएव राजा के यहाँ ही चोरी करनी चाहिए।"

एक दिन वह खजाने की तरफ गया। तालों की भली-भांति जाँच कर आया। उनकी तालियाँ बनवा लीं। अब एक दिन आधी रात को सेठ के रूप में, तालियों का गुच्छा लेकर वह चल दिया खजाने में चोरी करने।

वह पुराना युग था। उस समय के राजा प्रजा से कर वसूल करते थे सही, पर बदले में प्रजा की सेवा भी करते थे। यह नहीं कि महलों में मस्त पड़े हैं और नहीं मालूम कि प्रजा पर क्या—कैसी गुजर रही है।

उस समय श्रेणिक जैसे राजा और अभयकुमार जैसे मंत्री थे, जो प्रजा में घुल-मिल गये थे। वे प्रायः वेष बदल कर रात्रि के समय घूमने चल दिया करते थे। सोचते थे—जानना चाहिए कि प्रजा को क्या पीड़ा है और कौन-सा कष्ट है ? संभव है, जनता की आवाज हम तक न पहुँच पाती हो। यद्यपि हमारे पास कोई भी और कभी भी आ सकता है, फिर भी संभव है लोगों को आने और कहने की हिम्मत न पड़ती हो। मगर हमें तो इतनी हिम्मत चाहिए कि हम प्रजा की आवाज सुन सकें। लोग रात के समय अपने-अपने घरों में खुलकर बातें करेंगे और उनसे हमें उनकी ठीक-ठीक स्थिति का पता लग जायगा।

इस प्रकार विचार कर राजा और मंत्री अक्सर गलियों में चक्कर काट लिया करते थे। उस दिन भी दोनों वेष-परिवर्तन करके

राजमहल से निकले। इधर से यह जा रहे थे और उधर से सेठ बना हुआ चोर आ रहा था। अकस्मात् सामना हो गया। राजा ने पूछा—"कौन ?"

अब सत्य-पालन का प्रश्न आ खड़ा हुआ। वह सत्य-भाषण करने का नियम लेकर आया है. और पहली बार में ही उसकी अग्नि-परीक्षा का अवसर आ गया। चोर क्षण-भर के लिए हिचकिचाया, मगर तुरंत संभल गया। उसने निश्चय किया—"कुछ भी हो, सत्य ही बोलना चाहिए।"

इसी समय दोबारा वही प्रश्न उसके कानों से टकराया। उसने कहा—कौन ? चोर। और वह आगे चलता बना।

चोर का उत्तर सुन कर राजा और मंत्री मुस्करा कर बगल से निकल गये। राजा ने मंत्री से कहा—"यह तो कोई भला आदमी था। व्यर्थ ही हमने एक राह चलते भले आदमी को टोका।"

मंत्री ने उत्तर दिया—"जी हाँ, तभी तो यह उत्तर मिला। चोर अपने मुँह से कभी अपने को चोर नहीं कहता, वह तो साहूकार कह कर ही अपना परिचय देता है। चोर को चोर कहने की हिम्मत नहीं हो सकती।"

राजा और मंत्री बातें करते-करते आगे बढ़ गये और सेठ बना हुआ चोर खजाने के दरवाजे पर पहुँचा। वहाँ पहरा था। पहरेदार ने पूछा—"कौन है ?"

चोर ने बिना हिचकिचाहट उत्तर दिया—'चोर हूँ।"

पहरेदार ने यह सुना तो वह भी उसे राज्य-अधिकारी समझकर अलग हट गया। चोर ने खजाने का ताला खोला। भीतर जाकर इधर-उधर देखा। राजा का खजाना था—अपार सम्पत्ति का भण्डार ! उसमें चोर ने बहुमूल्य जवाहरात के चार डिब्बे देखे और वे ही उसे पसंद आ गये। उनमें से दो डिब्बे उसने उठा लिए

और बगल में दबा लिये। खजाने का ताला बंद करके वह चल दिया। वह सोचने लगा—"इन दो डिब्बों से तो बहुत दिन काम चल जाएगा।"

चोर वापिस जा रहा था कि संयोगवश फिर राजा और मंत्री से उसका सामना हो गया। राजा ने मंत्री से कहा—"पूछें तो सही कि कौन है ?" मंत्री बोला—"पूछ कर क्या कीजिएगा ? यह तो वही सेठ है जो पहले मिला था और जिसने चोर के रूप में अपना परिचय दिया था !"

मगर जब वह सामने ही आ गया तो राजा के मन में कौतूहल जागा और उससे फिर पूछा—"कौन ?"

चोर—एक बार तो बतला चुका कि मैं चोर हूँ। अब क्या बतलाना शेष रह गया ?

राजा—कहाँ गये थे ?

चोर - चोरी करने।

राजा—किसके यहाँ गये ?

चोर—और कहाँ जाता ? मामूली घर में चोरी करने से कितनी भूख मिटती ? राजा के यहीं गया था।

राजा—क्या लाये हो ?

चोर—जवाहरात के दो डिब्बे चुरा लाया हूँ।

राजा ने समझा—यह भी खूब है ! कैसा मजाक कर रहा है !

राजा और मंत्री महलों में लौट आये और चोर अपने घर जा पहुँचा।

सवेरे खजांची ने खजाना खोला तो देखा कि जवाहरात के दो डिब्बे गायब हैं। खजांची ने सोचा—चोरी हो गई है तो इस अवसर से मैं भी क्यों न लाभ उठा लूँ ? और यह सोचकर शेष दो

डिब्बे उसने अपने घर पहुँचा दिये। फिर राजा के पास जाकर निवेदन किया—"महाराज ! खजाने में चोरी हो गई है और जवाहरात के चार डिब्बे चुरा लिये गये हैं।"

राजा ने पहरेदारों को बुलाया। पूछा "चोरी कैसे हो गई ?"

पहरेदार ने कहा—"अन्नदाता, रात को एक आदमी आया अवश्य था; परन्तु मेरे पूछने पर उसने अपने-आपको चोर बतलाया। उसके चोर बतलाने से मैंने समझा कि यह चोर नहीं है और आपका ही भेजा हुआ कोई अधिकारी है। चोर अपने आपको चोर थोड़े ही कह सकता है !"

राजा सोचने लगा—"वह तो बड़ा हजरत निकला ! वास्तव में वह चोर ही था, साहूकार नहीं था। लेकिन साधारण चोर में इतनी हिम्मत नहीं हो सकती, इतना बल नहीं हो सकता। जान पड़ता है—उसे सत्य का बल प्राप्त है। वह किसी महापुरुष के चरणों में पहुँचा हुआ जान पड़ता है। वह चोर तो है; परन्तु उसकी पगडंडी बदलाने के लिए सचाई का जादू उस पर कर दिया गया है ! उसने सभी कुछ सत्य ही तो कहा था।"

मंत्री ने कहा—"कुछ भी हो, चोर का पता तो लगना ही चाहिए, अन्यथा खजाने में मक्खियाँ भिनकेंगी।"

बस, ढिंढोरा पिटवा दिया गया—'जिसने रात्रि में, खजाने में, चोरी की हो, वह राजा के दरबार में हाजिर हो जाय।'

लोगों ने ढिंढोरा सुना तो बतियाने लगे—"राजा पागल तो नहीं हो गया है ? कहीं इस तरह भी चोर पकड़े गये हैं ? चोर राज-दरबार में स्वयं आकर कैसे कहेगा कि मैंने खजाने में चोरी की है ! वाह री बुद्धिमत्ता !"

मगर ढिंढोरा पिटता रहा और पिटता-पिटता चोर के दरवाजे पर पहुँचा। ढिंढोरा सुनकर चोर मन ही मन सोचने लगा—"मेरे

सत्य को एक और चुनौती मिल रही है! सत्य की अजेय औ अमोघ शक्ति को मैं परख चुका हूँ, अब उससे हटने का प्रश्न ह उपस्थित नहीं होता। मैंने रात्रि में अपना जो स्पष्ट रूप रक्खा है, वही अब भी रक्खूँगा और सत्य के लिए अपने जीवन क बाजी लगा दूंगा।"

चोर सत्य से प्रेरित होकर सिपाहियों से कहता है—"चोरी मैंने की है।" सिपाही उसे राजा के पास ले गये। राजा ने मंत्री से कहा—"रातवाला चोर यही तो है! इसके बाद राजा ने पूछा—"क्या तुमने चोरी की है?"

चोर—जी हाँ, यह तो मैं पहले ही बतला चुका हूँ।

राजा—ठीक, क्या-क्या चुराया है तुमने?

चोर—इस प्रश्न का उत्तर भी मैंने रात्रि में ही दे दिया था। मैंने खजाने में से जवाहरात के दो डिब्बे चुराये हैं!

राजा—मगर खजाने से तो चार डिब्बे गायब हैं?

चोर—मैं तो दो ही ले गया हूँ। शेष दो के विषय में मुझे कुछ मालूम नहीं है। मौत के मुंह पर पहुँच कर भी मैंने सत्य ही कहा है। असत्य मुझे कहना नहीं है। असत्य का सेवन करना होता तो स्वेच्छा से यहाँ आता ही नहीं। देखिए महाराज! भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँच कर मैंने धर्मोपदेश सुना। मुझसे चोरी छोड़ने के लिए कहा गया, पर परिवार के निर्वाह का दूसरा कोई उपाय न होने के कारण मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब मुझसे कहा गया—चोरी नहीं छोड़ सकता तो सत्य तो बोला कर! मैंने सत्य बोलने का प्रण कर लिया। सत्य ने ही मुझे वह बल दिया है कि मैं आपके समक्ष उपस्थित हूँ।

राजा चोर की बातों पर अविश्वास नहीं कर सका। वह समझ गया। कहते हैं, उसकी सच्चाई से प्रभावित होकर राजा ने

उसे कोषाध्यक्ष का पद प्रदान कर दिया। चोर का जीवन सुधर गया।

तो मैं कह रहा था कि जीवन का कर्तव्य करते हुए यदि कोई व्यक्ति सत्य-भाषण की प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेता है और उससे विचलित नहीं होता, तो उसके जीवन-क्षेत्र में चोरी, व्यभिचार आदि के विषैले अंकुर नहीं पनप सकते। संसार का प्रचण्ड से प्रचण्ड बल भी सत्य के सामने नहीं टिक सकता। यदि मनुष्य सत्य की भली-भाँति पूजा करता है, हृदय की समग्र भावना केन्द्रित करके सत्य की उपासना करता है, तो वह अपने जीवन को सुन्दर, मंगलमय और आदर्श बना सकता है।

सत्य की त्रिवेणी

अहिंसा और सत्य, हमारे जीवन के दो अंग हैं। एक व्यक्ति को ले लीजिए या परिवार को, समाज को ले लीजिए या देश को, गृहस्थ को ले लीजिए या साधु को; प्रत्येक के जीवन की यही दो पांखें हैं। जीवन में अहिंसा हो किन्तु सत्य न हो तो वह अहिंसा पनप नहीं सकेगी, कारगर नहीं हो सकेगी। सत्य की अविद्यमानता में अहिंसा की बाजू ढीली-ढाली रहेगी। इसके विपरीत, अगर हम सत्य के प्रति तो आग्रहशील हो जाएँ; किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में अहिंसा न हो, सत्य कोरे सत्य के ही रूप में रहे और उसमें अमृत-चेतना का संचार करने वाली दया एवं करुणा की लहर तथा प्रेम की भावना न हो, तो वह अकेला सत्य भी हमारे जीवन में रोशनी नहीं दे सकेगा। इस रूप में अहिंसा और सत्य जीवन के दो पहलू हैं, दो पांखें हैं। हमारे आचार्य कहते हैं—

यथोभयाभ्यां पक्षाभ्यामाकाशे पक्षिणो गतिः।

आकाश में पक्षी उड़ना चाहता है, और अनन्त आकाश उड़ान भरने के लिए उसके सामने है; किन्तु यदि उसकी दाहिनी पाँख मजबूत हो और बाईं पाँख ठीक न हो, तो वह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार अगर बाईं पाँख मजबूत हो और दाहिनी पाँख कमजोर हो, तो भी वह उड़ान नहीं भर सकता।

हमें जो जीवन, मानव जीवन, इन्सान की जाति का जीवन मिला है, वह रेंगने के लिए, घिसटने के लिए नहीं है। यह जीवन साधारण जीवन नहीं है। यह पशुओं और हैवानों की तरह नीचे ही नीचे जाने के लिए, राक्षसों की तरह अधःपतन के लिए नहीं

मिला है। जो कीड़े जमीन में जगह तलाश किया करते हैं और नीचे घुसने का ही प्रयत्न किया करते हैं, मनुष्य का जीवन उनके समान नहीं है। यह जीवन उड़ान भरने के लिए है, उड़ने के लिए है। लेकिन मनुष्य उड़ान भरना चाहेगा, तो वह धन के बल पर उड़ान नहीं भर सकेगा। जाति के, ऐश्वर्य के या अधिकार के भरोसे भी उड़ान नहीं भरी जा सकती। दुनिया में न जाने कितनों को ये चीजें मिलीं और न मालूम कितने सम्राट् आए; परन्तु धन, ऐश्वर्य और अधिकार के साथ ही जमीन में समा गए। वे पृथ्वी को कंपाते हुए आये और लड़खड़ाते हुए चले गये।

मकबरों में पैर फैलाए हुए सोते हैं वह।
था जमीं से आसमां तक जिनका शोहरा एक दिन।

प्रथम तो उनका नाम ही न रहा और यदि रहा भी तो वह नाम घृणा एवं तिरस्कार का सूचक बन गया। मरने के बाद भी थूकने के लिए रह गया। ऐसी स्थिति में उनका वैभव और ऐश्वर्य किस काम आया? इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में मनुष्य के जीवन का जो महत्त्व है, वह ऊँचा उठने में ही है। और कोई भी दूसरी शक्ति उसे ऊँचा नहीं उठा सकती। जीवन को ऊँचा उठाने की शक्ति तो एकमात्र अहिंसा और सत्य ही है।

अहिंसा के पश्चात् सत्य की बारी आती है। सत्य का आचरण करने से पहले सत्य को समझ लेना चाहिए। सत्य क्या है, इस सम्बन्ध में हमारे महान् आचार्यों ने बहुत कुछ कहा है, व्याख्या की दृष्टि से भी और व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी। संस्कृत और प्राकृत का व्याकरण, जो शब्दों का पता लगाता है कि शब्द कैसे बना और कैसे आगे बढ़ा और इस प्रकार शब्द का कोना-कोना छान लेता है, वह सत्य के सम्बन्ध में कहता है:—

सद्भ्यो हितं सत्यम्।

जो सज्जनता का संदेश लेकर चला है, जो सज्जनता की सद्भावना लेकर चला है, जो सत् का वर्ताव है, वह सत्य है।

सत् वह है जिसका कभी नाश नहीं होता। जिसका नाश हो जाय वह सत् ही कैसा ? वह तो असत् हो गया। हमारे यहाँ कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः

—गीता

अर्थात् जो असत् है उसका कभी जन्म नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता।

आत्मा सत् है और जब सत् है तो अनन्त-अनन्त काल पहले भी थी, वर्तमान में भी है और अनन्त-अनन्त भविष्य में भी रहेगी। संसार के अनन्त पदार्थ भी अतीत में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेंगे। इस प्रकार सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता।

तो जो आत्मा के कल्याण के लिए मुँह से निकलता है, वह भी सत्य है, मन से सोचा जाता है वह भी सत्य है और जो काया से किया जाता है, वह भी सत्य है। इसीलिए जब सत्य की बात आई तो भगवान् महावीर ने कहा—

मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।

हे साधक ! तेरा मन पवित्र होना चाहिए। तेरे मन में उदारता विराजमान रहनी चाहिए। तेरा मन छोटा न बने; किन्तु विराट और विशाल बने। तेरे मन में तू ही आसन जमा कर न बैठ जाय; तेरी ही आवश्यकताएँ और कल्पनाएँ तेरे मन में व्याप गईं और वहाँ दूसरों को बिठलाने की जगह नहीं रही, तो समझ लेना कि तेरा मन सत नहीं है। तेरा वह मन असत् है।

जिस मन में विचारों की पवित्रता रहेगी, वही मन सत् है और वही मन का सत्य है।

जो अंतरंग में है, अन्तर्जीवन में है, उसी को हम मुँह से बोलेंगे. जन-कल्याण की दृष्टि से और अपने कल्याण की दृष्टि से गरजती वाणी जो मुँह से बाहर आएगी, वह सत्य होगी। ऐसा न हो कि मन में कुछ हो और वाणी में और ही कुछ हो। परन्तु मैं समझता हूं कि वचन से बोलने का सत्य ही काम नहीं आता है, जब तक कि मन में सत्य न हो। मन में सचाई होगी तभी वाणी में सचाई रहेगी। मन की सचाई ही वाणी की सचाई का रूप ग्रहण करती हैं। मन में विषमभाव आते हैं तो वाणी भी विषम हो जाती है। मन की सचाई के अभाव में वाणी असत्य ही कहलाएगी।

इसी प्रकार जो मन में सोचा है और वाणी से बोला है, उसी को अपने जीवन में उतारना, उसी के अनुरूप आचरण करना काया की सचाई है। साधक! तेरे हाथ, पैर और शरीर की समस्त चेष्टाएँ यदि तेरे मन और वचन का ही अनुसरण करती हैं, तो तू सच्चा है।

मनस्येकं वचस्येकं, काये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् काये चान्यद् दुरात्मनाम्॥

महात्मा कौन और दुरात्मा कौन है? महात्मा की ऊँची आत्मा होती है और दुरात्मा की नीची। दुरात्मा अंधकार की ओर जाने वाली आत्माएँ हैं और महात्मा वे हैं, जो अंधकार से प्रकाश की ओर चलते हैं।

महात्मा के मन में एक ही बात होती है, और वचन में भी एक ही बात होती है। जो मन में है वही उसके वचन में होगा। वचन भी जो पहले है वही बाद में है। ऐसा नहीं कि अब कुछ

और कह दिया और तब कुछ और कह दिया ! साथ ही कर्म, आचरण भी एक ही होगा। इस प्रकार धर्मात्मा के मन, वचन और तन में एकरूपता रहती है। सत्य मनुष्य की तीनों शक्तियों को एक सूत्र में पिरो देता है। जब एक ही भावना से अनुप्राणित होकर मन, वचन और तन कदम-से-कदम मिला कर सैनिकों की भाँति दौड़ते हैं और उसी परमात्म-प्रकाश की ओर दौड़ते हैं, तो हम समझते हैं कि यह महात्माओं की बात है, महापुरुषों का लक्षण है।

इसके विपरीत, मन में कुछ और चल रहा हो, और ही खटपट एवं गड़बड़ मच रही हो तथा वचन से कुछ और ही प्रकट किया जा रहा हो, मन में काँटों के झाड़ खड़े हो रहे हों, काँटे चुभाए जा रहे हों; किन्तु वचन से अमृत छिड़का जा रहा हो और आचरण का समय आने पर तीसरा ही रूप ग्रहण कर लिया जाता हो, तो समझ लो कि यह दुरात्मा का लक्षण है।

साधना की पवित्रता का जीवन अखण्ड ही रहेगा, वह टुकड़ा-टुकड़ा होकर नहीं रहेगा। वह एकरूप होगा, विरूप नहीं होगा। उसमें सुसंगति होगी, विसंगति को अवकाश नहीं मिलेगा। जीवन की यह अखण्डता, एकरूपता और संगति ही सत्य का स्वरूप है। हमारे जीवन में, जितने-जितने अंशों में एकरूपता और असंगति विद्यमान है, समझना चाहिये कि उतने ही अंशों में असत्य है।

साधना के मार्गपर आने वालों को, जीवन को महिमामय बनाने की इच्छा रखने वालों को निरन्तर सावधान रहना है और समझना है कि सत्य की साधना भी अहिंसा से कम नहीं है।

आज अहिंसा को स्थूल रूप दे दिया गया है, अतएव लोग अहिंसा का नाटक तो खेल लेते हैं; किन्तु सत्य का आचरण इतना सूक्ष्म है कि उसके द्वार पर पहुँचते ही पैर लड़खड़ाने लगते हैं। भगवान् महावीर का मार्ग यह नहीं है। भगवान् का

उपदेश है कि जितने क़दम तुम्हारे अहिंसा पर चल रहे हैं, उतने ही सत्य पर चलने चाहिएँ। सत्य को ठुकरा कर, अपमानित करके, अहिंसा का सत्कार और सन्मान नहीं किया जा सकता। अतएव अहिंसा की साधना के लिए सत्य की और सत्य की साधना के लिए अहिंसा की उपासना आवश्यक है।

कोई आदमी आपको मिश्री खाने के लिए कहता है। जब मिश्री देने लगता है तो कहता है—"लीजिए यह मिश्री तो है मगर मीठी नहीं है!" आप सोच-विचार में पड़ जाएँगे आखिर मिश्री है और मिठास उसमें नहीं है, इसका क्या अर्थ है ? आग है; किन्तु उष्णता उसमें नहीं है तो वह आग कैसी ? यह फूल लीजिए; किन्तु इसमें दुर्गन्ध है; यह सुनकर क्या आप नहीं सोचेंगे कि दुर्गन्ध वाला फूल कैसा ? यह घी तो है; किन्तु चिकनापन इसमें नहीं है। वह सब बातें आपको अटपटी मालूम होंगी। आप इनकी व्याख्या नहीं कर सकते।

इसी प्रकार यह कहना भी अटपटा और अर्थहीन है कि साधु या श्रावक तो है किन्तु सत्य नहीं है! साधु होकर भी सत्य न होने का अर्थ है अग्नि का होना किन्तु उष्णता का न होना! तात्पर्य यह है कि जहाँ सत्य की अग्नि है, वहीं साधुपन या श्रावक-पन टिक सकता है। जहाँ गर्मी निकल गई कि वह जीवन निष्प्राण हो गया। मैं कह चुका हूँ कि मनुष्य तभी तक जीवित है, जब तक उसके शरीर में तेज की धाराएँ बह रही हैं—शरीर का एक-एक कण जब गर्मी से गर्म हो रहा है। जब गर्मी निकल जाती है तो शरीर ठंडा पड़ जाता है और आप समझ जाते हैं कि यह मुर्दा है। मुर्दा सड़ता है, लड़ता नहीं है। तो जिस साधु-जीवन में से या गृहस्थ-जीवन में से सचाई निकल जाती है, उसमें कितना ही दंभ, कितनी ही मक्कारी और कितना ही बनाने का

पुरुषार्थ क्यों न हो, वह सफल नहीं होगा। धुएँ के बादल बरसने के लिए नहीं हैं। वे बिखरने के लिए हैं और कण-कण बिखरने के लिए हैं। वे इस भूमि को तरबतर नहीं कर सकेंगे।

जहाँ सत्य विद्यमान है, वहाँ छल-कपट टिक नहीं सकता। दुनिया-भर की बुराइयाँ सत्य के सामने काँपने लगती हैं। कदाचित् अन्तःकरण की निर्बलता के कारण जीवन में मजबूती के साथ सत्य को न पकड़ा गया और वह निर्बल पड़ गया, तो फिर बुराइयाँ खुल कर खेलने लगती हैं। मगर जब तक जीवन के मैदान में सत्य सजग प्रहरी की भाँति डटा है, बुराइयाँ पास में फटकने का भी साहस नहीं कर सकतीं। मैंने बतलाया था कि चोर ने चोरी तो नहीं छोड़ी; किन्तु सत्य का नियम ले लिया, तो चोरी भी अधिक समय तक नहीं टिक सकी। जब संत ने उसके जीवन में सत्य को उतार दिया, तो चोरी को भी बिस्तर बाँधकर रवाना होना ही पड़ा। इस प्रकार एकमात्र सत्य का प्रबल प्रकाश ही हमारे जीवन को सम्पूर्ण ज्योतिर्मय बना सकता है।

कहने को कहा जाता है कि मैं सत्य को ग्रहण कर तो लूँ, मैं सत्य के पथ पर चलूँ; किन्तु वास्तव में सत्य का मार्ग बड़ा कठिन है! उस पर किस प्रकार पैर बढ़ाए जाएं? सत्य बोलना तो बड़ा ही कठिन कार्य है! और झूठ बोलना सरल है। इसका अर्थ यह है कि जीवन में सत्य को लाना तो चाहते हैं; परन्तु जब जीवन-मार्ग में पुरुषार्थ करना पड़ता है, तो सत्य पर टिकना कठिन हो जाता है। मगर देखा जाय तो इस विचार के मूल में दुर्बलता ही दिखाई देगी। व्यवहार में ही देखें तो पता चल जाएगा कि पहले सत्य रहा है या असत्य? जब बचपन के रूप में इंसान की जिन्दगी आई और जब तक दुनिया की छाया बच्चे पर नहीं पड़ी, तब तक वह सत्य में रहता है या असत्य में? छोटे बच्चे, जीवन के प्रारम्भ में असत्य बोलना नहीं जानते। वे जो कुछ

भीतर है, उसे साफ-साफ कह देना जानते हैं। धीरे-धीरे उनमें से सत्य का अंश निकल जाता है और वे भूठ बोलने लगते हैं; बल्कि भूठ बोलने के लिए वे तैयार किये जाते हैं। असत्य बोलने की शिक्षा उन्हें माता-पिता के द्वारा मिलती है, भाई-बहिन से मिलती है, और दूसरे पारिवारिक जनों से मिलती है। उन्हें असली बात को छिपाने के लिए समझाया जाता है, कहा जाता है—'है तो ऐसा ही, मगर ऐसा कहना मत, यों कहना।'

तो हुआ क्या ? बालक का जीवन स्वभावतः सत्य की ओर चल रहा था और वह साफ-साफ सच्ची बात कह देता था। वह सत्यमय जीवन लेकर आया था। किन्तु दुर्भाग्य से परिवार-वालों का और दूसरों का जीवन तथा उपदेश उसे असत्य की राह पकड़ा देता है।

सचाई यह है कि सत्य बोलना सिखलाने की आवश्यकता ही नहीं है। सत्य तो जन्म-घूंटी के ही साथ आता है। वह मानव-जीवन का अनिवार्य अंग या साथी है। अगर किसी चीज को सिखलाने की आवश्यकता पड़ती है, तो वह है असत्य ! असत्य जीवन पर बोझ की भांति लादा जाता है। सत्य जीवन का स्वरूप है और असत्य उस जीवन का विरूप है !

आज आपका क्या हाल है ? आप सत्य से दूर चले गये हैं। असत्य के मैदान में खड़े हो गए हैं। दुकान में, दफ्तर में, राज-नीति के क्षेत्र में, समाज में. जाति में, यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र में भी असत्य ने अड्डा जमा लिया है। चारों ओर, जीवन के इर्द-गिर्द असत्य का साम्राज्य है। इसी कारण अब कहा जाता है कि सत्य बोलना सीखना पड़ेगा।

एक सज्जन ने मुझे एक परिवार की बात बतलाई। कोई महाशय बाहर से आये और गृह-स्वामी को आवाज लगाने लगे।

जब आवाज लग रही थी, तो घर का मालिक घर में ही मौजूद था; किन्तु परिस्थिति-वश आगन्तुक से मिलना नहीं चाहता था। आगन्तुक भी जल्दी टलने वाला नहीं था। वह द्वार पर डटा रहा और आवाज पर आवाज लगाता रहा। निरुपाय होकर घर के मालिक ने अपने छोटे बच्चे से कहा—"नीचे जाकर उस आदमी से कह दे कि बाबूजी घर में नहीं हैं।" लड़के ने जाकर कह दिया-'बाबूजी कहते हैं कि बाबूजी घर में नहीं हैं!'

इतना सुनकर आगन्तुक बेधड़क ऊपर चला गया और बोला हजरत! यह सब क्या है? घर के मालिक ने पूछा—"आपको मेरा घर में होना कैसे मालूम हो गया? उसने उत्तर दिया—"आपका यह बच्चा संदेश लेकर आया था 'बाबूजी कहते हैं कि बाबूजी घर में नहीं हैं!'" यह सुनकर बाबूजी अपने बच्चे पर आँखों से आग बरसाने लगे। मगर बेचारे बालक का क्या अपराध था? वह झूठ बोलने की कला में निष्णात नहीं हो पाया था। जब वह बोला तो सरलभाव से सच ही मुँह से निकल गया।

तात्पर्य यह है कि संसार में आज सर्वत्र असत्य का साम्राज्य है और बालकों को असत्य बोलने की ही ट्रेनिंग दी जाती है। बच्चों को सिखलाया जाता है कि सत्य तो बोलो; किन्तु हमारे ही सामने बोलो और दुनिया-भर में झूठ बोलो! मगर बाहर असत्य बोलने की शिक्षा पाकर बालक की आदत में असत्य बोलना शामिल हो जाता है और फिर वह माता-पिता से भी असत्य ही बोलने लगता है। तब उन पर मार पड़ती है और कहा जाता है कि झूठ क्यों बोलते हो? इसका अर्थ यह है कि जहाँ किसी प्रकार के स्वार्थ का प्रश्न है तो कहेंगे कि झूठ बोला करो और जब अपना काम है तो कहेंगे सत्य बोला करो! बालक के सामने

यह बड़ी विचित्र पहेली है। उसकी कोमल बुद्धि इस पहेली को बुझाने में समर्थ नहीं होती और उसका जीवन असत्य के अंधकार में डूब जाता है।

होना तो यह चाहिए कि आपके बालक जहाँ कहीं जाएँ, किसी भी देश में जाएँ, तो वे आपकी बातें समझा सकें, आपके नाम पर चार चाँद लगाकर लौटें और वहाँ आपकी स्मृति ऐसी अमर बना दें कि भुलाई न भूले। मगर यह चीज जीवन में बन नहीं पाती है; क्योंकि हम प्रारंभ में खयाल नहीं रखते। यह बात तो तब हो सकती है, जब बाप से भूल हुई हो, तो वह स्पष्ट रूप से कहे 'मुझसे भूल हो गई है भैया!' और इसी प्रकार पुत्र भी विनयपूर्वक अपनी भूल को स्वीकार करे। गुरु अपनी भूल को निष्कपट भाव से स्वीकार करे और शिष्य भी अपनी भूल पर पर्दा डालने का प्रयत्न न करके निःसंकोच भाव से उसे स्वीकार करे।

इस समय गोखले के जीवन की एक घटना याद आ जाती है। वे अपने कमरे में बैठे थे और कुछ लिखना चाहते थे। पास ही उनका छोटा बच्चा था और कुछ लिख-पढ़ रहा था। गोखले ने उससे कहा—"बेटा दावात लाना!" लड़के ने दावात पकड़ा दी। वे लिखने लगे। लिख चुकने पर जब दावात वापिस लौटने लगे, तो बच्चा आया। दावात देने के लिए उन्होंने हाथ फैलाया। उस समय उनकी समग्र चेतना और मन अपने लेख में डूबा था और शून्य मन से उन्होंने हाथ फैला दिया। परिणाम यह हुआ कि दावात पकड़ने के लिए बच्चा ठीक तरह हाथ फैला नहीं पाया था कि गोखले ने अपने हाथ से दावात छोड़ दी। दावात कालीन पर गिर कर फूट गई, स्याही से फर्श रंग गया। यह देख बच्चा भयभीत हो गया और काँपने लगा और पत्थर की मूर्ति की तरह स्तंभित रह गया। गोखले ने पूछा—"बेटा, दावात कैसे गिर

गई ?" लड़का बोला—"मैं उसे ठीक तरह पकड़ नहीं सका था।" गोखले ने उसे थपकी देकर कहा—"यों मत कहो; यों कहो कि आपने मुझको अच्छी तरह पकड़ाई नहीं थी।" बालक ने फिर कहा—"नहीं पिताजी, यह बात नहीं। वास्तव में मैं अच्छी तरह पकड़ नहीं सका।" तब महाशय गोखले फिर बोले—"नहीं, मेरा मन इस लेख में उलझा था और अन्यमनस्क भाव से मैंने तुम्हें दावात पकड़ाई थी। मुझे दावात पकड़ाने का काम करना था, तो चेतना भी उसी तरफ रखनी चाहिए थी। मगर मैंने अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन नहीं किया। यह तुम्हारी नहीं मेरी अपनी भूल है।"

यह एक साधारण-सी घटना मालूम होती है; मगर मैं समझता हूँ कि यह साधारण और छोटी घटना नहीं वरन महत्त्वपूर्ण घटना है। दावात के गिर जाने की गलती पिता अपने ऊपर और पुत्र अपने ऊपर ले रहा है। जिस परिवार में इस प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं, उसमें क्या कभी असत्य पनप सकता है ? ऐसे गृहस्थों के आसपास सत्य नहीं चमकेगा तो कहां चमकेगा ? उस बालक के मन में यह भावना उत्पन्न हुई होगी कि पिताजी देश के माने हुए अग्रणी हैं, बहुत ऊँचाई पर हैं, फिर भी अपनी भूल को स्वीकार करते हैं, उसको गर्व उत्पन्न हुआ होगा। इस प्रकार का गर्व मनुष्य को अन्तिम क्षण तक जूझ कर भी सत्य की रक्षा करने की प्रेरणा देता है।

आम तौर पर सर्वत्र यही कहा जाता है कि सत्य बोलो; असत्य भाषण मत करो। मगर व्यवहार में हम देखते हैं कि सत्य बेचारा कोने में पड़ा सड़ रहा है। उसे ग्रहण करने के लिए कोई तैयार नहीं है। जीवन के क्षेत्र में आकर सत्य के सम्बन्ध में लम्बी लम्बी बातें तो कीं; मगर अमल नहीं किया, तो सत्य का हमारे

जीवन में क्या महत्त्व रहा ? लोग सत्य से डरते हैं और उसकी उपासना को कठिन समझते हैं। मगर मैं कहना चाहता हूँ कि सत्य और असत्य के आचरण में सत्य का आचरण सरल और असत्य का आचरण कठिन है।

मान लीजिए, आज एक मनुष्य सत्य ही बोलने और असत्य न बोलने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेता है। अब उसका जीवन पचास वर्ष, सौ वर्ष या इससे भी अधिक लम्बा क्यों न हो, वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता हुआ उसे ठीक तरह व्यतीत कर सकता है। वह लड़खड़ाएगा नहीं और कहीं कठिनाई आएगी, तो उसे जीत लेगा। उसके जीवन में ऐसी कोई बात उपस्थित नहीं होगी कि उसे प्राणों से हाथ धोना पड़े।

इसके विपरीत, दूसरा आदमी कभी सत्य न बोलने का और सदा-सर्वत्र असत्य ही बोलने का नियम ले लेता है, तो उसका जीवन कितना लम्बा रास्ता तय करेगा ? आप विचार करेंगे तो पाएँगे कि इस प्रकार एक दिन भी निकलना कठिन हो जायगा। एकान्त-भाव से सत्य का आचरण करते-करते तो पूर्वजों के जीवन के जीवन निकले हैं और गांधीजी जैसे महापुरुष आज के युग में उन अतीत की जीवनियों की पुनरावृत्ति करते हुए अपना सत्यमय सफल जीवन व्यतीत कर चुके हैं ; किन्तु असत्य का नियम ऐसा है कि समग्र जीवन तो क्या, एक दिन भी निकालना कठिन है ; असत्य का उपासक भूख लगने पर घर जाकर यदि सत्य कह देगा, तो अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हो जायगा। अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए उसे असत्य ही बोलना पड़ेगा। वह कहेगा—नहीं, मुझे भूख नहीं है। या भूख के वदले प्यास और प्यास के वदले भूख कहेगा। ऐसी स्थिति में उसकी कैसी दुर्गति होगी, इस बात का अनुमान करना कठिन नहीं है। कदाचित्

वह घर वालों को जतला दे कि मैंने झूठ बोलने का प्रण किया है और मैं सब बातें उलटी ही उलटी कहूँगा, तो भी इतना सत्य बोलने के कारण वह अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो ही जायगा। भूख की जगह प्यास और प्यास के बदले भूख कहते हुए भी उसे तो यही कहना होगा कि मैं सत्य ही कह रहा हूँ ! इस प्रकार असत्य के नियम के सहारे एक दिन भी निकलना मुश्किल है। असत्य-भाषी को बलात् सत्य का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

तो हमारा जीवन असत्य से घिरा हुआ अवश्य है, चारों ओर असत्य ही असत्य का वातावरण है, फिर भी उसका टिकाव सत्य पर ही है। कोई भी समाज और राष्ट्र असत्य के बल पर जीवित नहीं रह सकता।

भगवान् महावीर एक बहुत बड़ा सिद्धान्त लेकर आये थे। किसी भी प्राणी का जीवन सत्य के द्वारा ही टिक सकता है। उन्होंने जब सत्य बोलने की बात कही, तो पहले सत्य को सोच लेने की भी बात कही और फिर आचरण करने की। यानी जीवन के हर अङ्ग में सत्य का प्रकाश आजाना चाहिए, आगे बढ़ना चाहिए और उस चमकते हुए प्रकाश में ही जीवन की समस्या हल हो सकती है।

दुर्भाग्य से आज हम सत्य बोलने की बात तो कहते हैं; परन्तु सत्य को सोचने की बात नहीं कहते, आचरण की बात भी भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम पहले की और बाद की भूमिका को—मनःसत्य और कायसत्य को—छोड़ देते हैं। हम वचन के सत्य की पुकार गुंजाने लगे; किन्तु मन का और काया का सत्य नहीं होगा, तो इतनी गड़बड़ पैदा हो जायगी कि हम वास्तविक सत्य को प्राप्त ही नहीं कर सकेंगे। मन के सत्य के बिना वचन का सत्य धोखा-मात्र साबित होता है।

हमारे पुराने आचार्यों ने एक कहानी कही है। एक आदमी ने भूल से एक गाय खरीद ली। जब वह उसे दुहने जाता है, तो वह लात मारती है। एक-दो दिन निकल गये, तो वह घबरा गया। सोचने लगा—अच्छी बला गले पड़ी! प्रतिदिन चारे वगैरह से इसका पोषण करता हूँ, और दूध के नाम पर यह लातें लगाती है! उसने गाय को बेच डालने का विचार किया; मगर ऐसी गाय को खरीदेगा कौन?

वहीं पास में एक भगतजी रहते थे। माला फेरने से प्रसिद्ध हो गये थे। भक्तों में उन्होंने अपना नाम लिखा लिया था। सोच-विचार कर गाय का मालिक उनके पास पहुँचा। बोला-'भगतजी, हम तो लुट गये!'

भगतजी बोले—क्यों भाई, क्या हुआ?

गाय वाला—हम गाय खरीद लाये; किन्तु वह दूध नहीं देती और बिकती भी नहीं है।

भगतजी—इसकी क्या चिन्ता है? गाय हम बिकवा देंगे।

गाय वाला—बहुत दया होगी आपकी, मगर बिकवाएँगे कैसे?

भगतजी—गाय का खरीददार आए तो उसे मेरे पास ले आना।

आखिर खरीददार आया। गाय को देख कर बोला—गाय तो बड़ी खूबसूरत और तगड़ी है। दूध का क्या हाल है?

गाय वाले ने कहा—मेरे कहने से क्या होगा? पड़ौस में जो भगतजी हैं, उन्हीं से पूछ लीजिये।

खरीददार भगतजी के पास पहुँचा। बोला—आपके पड़ौसी की गाय लेनी है।

भगतजी मौन रहे और माला जपते रहे।

खरीददार ने प्रश्न किया—भगतजी, वह गाय कितना दूध देती है।

भगतजी ने सामने पड़े हुए एक बड़े से पत्थर की ओर इशारा कर दिया। खरीददार ने समझा—"पत्थर सात-आठ सेर का है, तो गाय इतना ही दूध देती होगी।

खरीददार ने वापिस लौटकर रुपये गिन दिये और गाय ले ली। गाय वाले ने कहा—"आप पूछ-ताछ करके गाय खरीद रहे हैं। अब मेरा कोई वास्ता नहीं है!" खरीददार ने कह दिया—ठीक है!

अगले दिन जब वह गाय को दुहने बैठा, तो गाय ने उसके कपाल पर लात जड़ दी। सोचा—नई जगह आई है, अपरिचित है, ठिकाने आ जायगी! दूसरे दिन पुचकार कर और हाथ फेर कर वह फिर दुहने बैठा, तो फिर वही हाल हुआ! उसे बड़ा गुस्सा आया। वह गाय वाले के घर पहुँचा और बोला—"तूने मुझे ठग लिया है!" गाय वाले ने कहा—"मैंने कब, क्या कहा था? मेरे कहने पर तो सौदा तय नहीं हुआ था।"

बात ठीक थी। वह भगतजी के पास पहुँचा। भगतजी उस समय भी हाथ में माला लिये बैठे थे। उसने भगतजी से कहा—"आपने मेरे साथ बड़ी बेईमानी की। आपसे तो ऐसी उम्मीद नहीं थी भगतजी!"

भगतजी धीमे से कहने लगे—"मैंने क्या बेईमानी की है भैया!"

'आपने पत्थर की तरफ इशारा किया था न?"

भगत—मैंने तो ठीक ही बतलाया था कि इस पत्थर में दूध हो तो गाय में दूध हो! किन्तु तेरे अन्दर मस्तिष्क नहीं है और तू सिर्फ हड्डियों का ढांचा ही लिये फिरता है, तो मैं क्या करूँ?

खरीददार—अरे, ऐसी बात थी? मैं तो समझा ही नहीं! मेरी तो तकदीर फूट गई!

भगतजी फिर भी प्रसन्न थे। उन्हें अपनी चतुराई पर अभिमान था! तो अभिप्राय यह है कि कोरा वाणी का सत्य दुमुँहा है।

उस सत्य की दो-दो शक्लें बनाई जा सकती हैं। इसीलिये भगवान् महावीर ने सब से पहला स्थान मन के सत्य को दिया है। मन में सत्य होगा तो ही वचन का सत्य, सत्य हो सकेगा। मन-सत्य के अभाव में वचन का सत्य छल-मात्र साबित होता है। भगतजी के मन में सत्य नहीं था, तो उन्होंने धोखा देने की बात की! उनके मन में 'भगवान्' नहीं था तो पशुत्व की और राक्षसपन की भावना थी! मन के अभाव में इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

सौभाग्य से हमें भगवान् महावीर का जीवन-दर्शन महाप्रकाश के रूप में मिला है कि सत्य का मार्ग केवल वचन से या काया से नहीं चलेगा। वह तो हमारे मन से, वचन से और काया से ही प्राप्त हो सकता है। सत्य की त्रिवेणी मन, वाणी और कर्म—इन तीनों में होकर बहती है। अतएव जिन्हें सत्य की आराधना और उपासना करनी है, उन्हें सर्वप्रथम अपने मन में सत्य को स्थान देना होगा। जो मन से सच्चा होगा, वही सत्य भगवान् की उपासना करने में समर्थ हो सकेगा।

—:-*-:—

सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण

भगवान महावीर के दर्शन में सब से बड़ी क्रान्ति, सत्य के विषय में, यह रही है कि वे वाणी के सत्य को तो महत्त्व देते ही हैं; किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन के सत्य को, विचार या मनन करने के सत्य को देते हैं। जब तक मन में सत्य नहीं आता, मन में पवित्र विचार और संकल्प जागृत नहीं होते और मन सत्य के प्रति आग्रहशील नहीं बनता; बल्कि मन में झूठ, कपट और छल भरा पड़ा रहता है, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नहीं माना जा सकता। सत्य की पहली कड़ी मानसिक पावनता है और दूसरी कड़ी वचन की पवित्रता है।

आज जनता के जीवन में जो संघर्ष और गड़बड़ी दिखाई देती है, चारों ओर जो बेचैनी फैली हुई है, उसके मूल कारण की ओर दृष्टिपात किया जाय, तो पता लगेगा कि मन के सत्य का अभाव ही इस विषम परिस्थिति का प्रधान कारण है। जब तक मन के सत्य की भली-भाँति उपासना नहीं की जाती, तब तक घृणा-द्वेष आदि बुराइयाँ, जो आज सर्वत्र अपना अड्डा जमाये बैठी हैं, समाप्त नहीं हो सकतीं।

असत्य का प्रकरण आया तो शास्त्रकारों ने यह भी बतलाया है, कि असत्य का स्रोत कहाँ है? अन्तर की कौन-सी वृत्तियाँ असत्य को जन्म देती हैं? आखिर वृक्ष उगता है, तो बीज के अभाव में तो नहीं उग सकता! असत्य अगर वृक्ष है तो उसका बीज क्या है? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रकारों ने दिया है।

असत्य भाषण का एक कारण क्रोध है। जब क्रोध उभरता है, तो मनुष्य अपने-आप में नहीं रहता है। क्रोध की आग प्रज्वलित होने पर मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है, विवेक भस्म हो जाता है और वह असत्य भाषण करता है। आपा भुला देने वाले उस क्रोध की स्थिति में बोला गया असत्य तो असत्य है ही; किन्तु सत्य भी असत्य हो जाता है।

इस प्रकार जब मन में अभिमान भरा है, और अहंकार की वाणी ठोकरें मार रही है, तो ऐसी स्थिति में असत्य तो असत्य रहता ही है; परन्तु यदि वाणी से सत्य भी बोल दिया जाय, तो वह भी, जैनधर्म की भाषा में, असत्य ही कहा जाता है।

यदि मन में माया है, छल-कपट और धोखा है और उस स्थिति में कोई अटपटा-सा शब्द तैयार कर लिया गया, जिसका यह आशय भी हो सकता है और दूसरा अभिप्राय भी निकाला जा सकता है, तो वह सत्य भी असत्य की श्रेणी में है।

मनुष्य जब लोभ-लालच में फंस जाता है, वासना के विष से मूर्च्छित हो जाता है और अपने जीवन के महत्त्व को भूल जाता है और जीवन की पवित्रता का स्मरण नहीं रहता है, तब उसे विवेक नहीं रहता कि वह साधु है या गृहस्थ है ? वह नहीं सोच पाता कि अगर मैं गृहस्थ हूँ तो गृहस्थ की भूमिका भी संसार को लूटने की नहीं है और संसार में डाका डालने के लिए ही मेरा जन्म नहीं हुआ है। मनुष्य संसार से लेने ही लेने के लिए नहीं जन्मा है; किन्तु मेरा जन्म संसार को कुछ देने के लिए भी हुआ है--संसार की सेवा के लिए भी हुआ है। जो कुछ मैंने पाया है, उसमें मेरा भी अधिकार है और समाज तथा देश का भी अधिकार है। जब तक सँभाल कर रख रहा हूँ, रख रहा हूँ और जब देश को तथा समाज को जरूरत होगी, तो कर्तव्य समझ कर खुशी से दूँगा।

मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्ति उसके मन को विशाल एवं विराट बना देती है। जिसके मन में ऐसी उदार भावना रहती है, उसके मन में ईश्वरीय प्रकाश चमकता रहता है, और ऐसा भला आदमी जिस परिवार में रहता है. वह परिवार फूला-फला रहता है। जिस समाज में ऐसे उदार मनुष्य विद्यमान रहते हैं, वह समाज जीता-जागता समाज है। जिस देश में ऐसे मनुष्य उत्पन्न होंगे, उस देश की सुख-समृद्धि फूलती-फलती रहेगी।

जब तक मनुष्य के मन में उदारता बनी रहती है, उसे लोभ नहीं घेरता है। उत्पन्न होते हुए लोभ से वह टकराता रहता है, संघर्ष करता है और उस जहर को अन्दर नहीं आने देता है। जब तक वह मनुष्य बना रहता है और उदारता की पूजा करता है, तभी तक उसकी उदारता सत्य है और क्षमा भी सत्य है।

क्षमा करना भी सत्य का आचरण करना है। किसी में निरभिमानता है और सेवा की भावना है, अर्थात् वह जनता के सामने नम्र सेवक के रूप में पहुँचता है, तो उसकी नम्रता भी सत्य है। जो संसार की सेवा के लिए नम्र बन कर चल रहा है, वह सत्य का ही आचरण कर रहा है।

इसी प्रकार जो सरलता के मार्ग की ओर जिन्दगी ले जाता है, जिसका जीवन खुला हुआ है, स्पष्ट है, चाहे कोई भी देख ले, दिन में या रात में परख ले; चाहे एकान्त में परखे, चाहे हजार आदमियों में परखे; उसकी जिंदगी, वह जिंदगी है कि अकेले में रह रहा है, तो भी वही काम कर रहा है और हजारों के बीच में रह रहा है, तो भी वही काम रहा है। भगवान् महावीर ने कहा है—

दिआ वा, राओ वा, परिसागओ वा,
सुत्ते वा, जागरमाणे वा।

—दशवैकालिक, ४

तू अकेला है और तुझे कोई देखने वाला नहीं है, पहचानने वाला नहीं है, तुझे गिनने के लिए कोई उँगली उठाने वाला नहीं है, तो तू क्यों सोचता है कि ऐसा या वैसा क्यों न कर लूँ; यहाँ कौन देखने बैठा है! अरे, सत्य तेरे आचरण के लिए है, तेरी बीमारी को दूर करने के लिए है। इसलिए तू अकेला बैठा है तो भी उस सत्य की पूजा कर और हजारों की सभा में बैठा है, तो भी उसी सत्य का अनुसरण कर। यदि लाखों और करोड़ों की संख्या में जनता बैठी है, तो उसे देखकर तुझे अपनी राह नहीं बदलनी है। यह क्या कि जनता की आँखें तुझे घूरने लगें, तो तू राह बदल दे, सत्य का मार्ग बदल दे! नहीं, तुझे सत्य की ही ओर चलना है और प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही तेरा उपास्य होना चाहिए।

इसी प्रकार तू गाँव में है, चाहे नगर में है, सत्य पर ही चल। जब तू सो रहा है, तब भी सत्य का मार्ग पकड़ और जब जाग रहा है, तब भी सचाई को पकड़े रह। सोना और जागना भी तेरे अधीन होने चाहिएँ।

मनुष्य कहता है--"जब मैं जागता हूँ तो जीवन में रहता हूँ और जीवन की बागडोर अपने हाथ में पकड़े रखता हूँ; किन्तु जब सो गया तो बस सो गया! उस समय मेरे जीवन की बागडोर मेरे हाथ में नहीं रहती। उस समय मेरा क्या उत्तरदायित्व है?" किन्तु जैनधर्म जीवन की बड़ी कठोर आलोचना प्रस्तुत करता है। वह कहता है--"नहीं, तुझे वह उत्तरदायित्व भी ग्रहण करना होगा। जब तू जागा हुआ है तब अपने जीवन की लगाम अपने हाथ में रख और जब सो रहा है, तब भी ढीली न छोड़। सोये हुए मन में भी जो छल-कपट, धोखा चल रहा है, अहंकार जाग रहा है, वह लड़ रहा है और क्लेश कर रहा है, तो यह सब दुर्भावनाएँ कहाँ से उत्पन्न हो रही हैं? इन दुर्बलताओं और

कमजोरियों का जन्म क्यों हुआ है? जागते समय की यह दुर्वृत्तियाँ ही तो आखिर स्वप्न में अपनी क्रीड़ा जारी रखती हैं। फिर इनका उत्तरदायित्व तुझ पर नहीं तो किस पर है? दिन में, किसी के पैर में काँटा चुभता है, तो काम में तल्लीन होने के कारण उसे मालूम नहीं होता; किन्तु रात्रि में वह पीड़ा देने लगता है। इसी प्रकार दिन में, जागते समय घृणा, द्वेष, रोष आदि के जो कांटे हमारे मन में चुभ जाते हैं, वही कांटे रात्रि में, सोते समय खटकते हैं, कसक पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि अगर तू जागते समय अपने जीवन को, मन को, प्रत्येक व्यापार को अपने काबू में रक्खेगा, तो सोते समय का जीवन स्वतः तेरे क़ाबू में रह सकेगा।"

इस प्रकार अपने मन को सोते और जागते एकरूप में लाना चाहिए और जीवन में सरलता आनी चाहिए।

हाँ, तो मैंने कहा है कि लोभ-लालच के वश होकर जो सत्य बोला जाता है, वह भी वास्तव में असत्य है। इसी भांति जहाँ क्रोध है, अभिमान और अहंकार है, वहाँ भी असत्य है। तूने क्या बोला है और क्या नहीं बोला है, उसकी हम गिनती नहीं कर रहे हैं। कुछ भी क्यों न बोला हो, किन्तु अहङ्कार अपने-आपमें असत्य है और वह पवित्र से पवित्र वाणी को भी असत्य का रूप प्रदान कर देता है।

जब कारण ही असत्य है तो कार्य सत्य कैसे बनेगा? ऐसा नहीं हो सकता कि कुम्हार मिट्टी के तो घड़े बनाने चले और बन जाएँ वे सोने-चाँदी के। न्याय का एक निश्चित सिद्धान्त है—

कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणो दृष्टः।

अर्थात् कारण में जो गुण होंगे, विशेषताएँ होंगी, वही कार्य में आएँगी। इस रूप में हम देखते हैं कि घड़े के मूल

में अगर मिट्टी है, तो घड़ा मिट्टी का बनेगा और यदि उसके मूल में सोना या चाँदी है, तो घड़ा भी सोने या चाँदी का ही बनेगा। कार्यकारण-सम्बन्धी इस नियम में कभी उलट-फेर नहीं हो सकता।

तो जब क्रोध अपने-आप में असत्य है, तो उससे प्रेरित होकर किया गया आचरण भी असत्य हो जाता है। यही बात अभिमान, छल-कपट और लोभ-लालच के विषय में समझी जा सकती है।

इस सम्बन्ध में थोड़ा दार्शनिक दृष्टि से भी विचार कर लें। जिस विषय पर गहराई के साथ मनन नहीं हो जाता है, वह साफ नहीं होता और उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की आशंकाएँ दबी रह जाती हैं।

एक आदमी मिथ्यादृष्टि है, सम्यग्दृष्टि अर्थात सत्य की दृष्टि उसे प्राप्त नहीं है। वह पहले गुणस्थान की भूमिका में है और उसी भूमिका में सत्य बोलता है और अहिंसा का यथासंभव पालन करता है। तो भले ही आप व्यवहार में उसके सत्य को सत्य कहें और उसकी अहिंसा को अहिंसा मानें; किन्तु शास्त्र की भाषा में, यदि मनुष्य सत्य की दृष्टि नहीं रखता है, उसके विचारों में प्रकाश नहीं आया है, उसने अपने तथा दूसरों के जीवन को समझने की कला प्राप्त नहीं की है, तो उसके द्वारा बोला जाने वाला कोरा वाणी का सत्य, सत्य नहीं है और उसकी अहिंसा भी वास्तव में अहिंसा नहीं है। इसके विपरीत, यदि सत्य और अहिंसा की लहर विवेकपूर्वक आ रही है, उसमें अभिमान और लोभ-लालच नहीं है, उसकी दृष्टि भी सत्य और अहिंसामयी बन गई है, तो उसके द्वारा बोला जाने वाला सत्य, सत्य है, पालन की जाने वाली अहिंसा, अहिंसा है। इस प्रकार

वास्तविक सत्य और अहिंसा का प्रादुर्भाव विवेक की उर्वरा भूमि से होता है। अज्ञान और मिथ्यात्व की पृष्ठभूमि से आने वाला सत्य, सत्य नहीं है।

आपको मालूम होना चाहिए कि सत्य चारित्र की भूमिका है। चारित्र की भूमिका पाँचवें और छठे गुणस्थान में आती है। जब चारित्र की भूमिका पाँचवें गुणस्थान से पहले नहीं आती, तो प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व की भूमिका में जो सत्य बोला जा रहा है, उसे किस प्रकार सत्य कहा जा सकता है ?

प्रश्न टेढ़ा है और इसी कारण उस पर बारीकी से विचार करने की आवश्यकता है। विचार करते समय हमें सिद्धान्त की मर्यादाओं पर दृष्टि रखनी होगी। शास्त्र ने जिन सीढ़ियों का निर्माण किया है, उन्हीं सीढ़ियों से ऊपर चढ़ना होगा और उन्हीं से रास्ता नापना होगा। उनके द्वारा रास्ता नहीं नापेंगे, तो मैं समझता हूँ, हम गलतफ़हमी में पड़ जाएँगे और सत्य की सीढ़ी पर नहीं पहुँचेंगे।

सीधी-सी बात है। जब कोई प्राणी मिथ्यात्व की भूमिका में है, तो वहाँ जीवन का अंधकार है और गहरा अंधकार है; इतना अंधकार है कि उस प्राणी ने कदाचित् ऊँचे घराने में भी जन्म ले लिया है, तो भी सत्य उसके पास नहीं फटक सकता। वह तो तभी आएगा, जब उसे वह निमंत्रण देगा। ऐसे प्राणी को, जो मिथ्यात्व और अज्ञान में पड़ा है, सत्य की उपलब्धि नहीं हुई है। उसने आत्मा को और परमात्मा को नहीं पहचाना है। वह कदाचित् सत्य भी बोल रहा है, तो भी उसका सत्य, सत्य नहीं है। जनता की भाषा भले ही कहे कि वह सत्य बोल रहा है; परन्तु आगम की भाषा तो यही कहती है कि वह सत्य नहीं बोल रहा है।

एक उदाहरण लीजिए। कोई शराबी शराब पीकर बेहोश हो गया है और उस हालत में भी वह पिता को पिता और पुत्र को पुत्र कहता है और दोनों के साथ यथायोग्य व्यवहार भी करता है। किन्तु नशे की हालत में ही वह ऐसा कह रहा है, तो क्या उसका कहना सत्य है? नशे की बेहोशी में वह पिता को पिता और पुत्र को पुत्र कहता है। ऊपरी तौर पर उसका कहना सत्य मालूम होता है; फिर भी आप कहते हैं कि यह अपने-आप में नहीं है, यह होश में नहीं है और इसका दिमाग दुरुस्त नहीं है और इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। तो आप ऐसा क्यों कहते हैं? उसके सत्य-भाषण को भी आप सत्य के रूप में क्यों नहीं स्वीकार करते?

एक पागल आदमी है। उसका दिमाग खराब हो चुका है। उसे बाँध कर रक्खा गया है। किन्तु कभी-कभी किसी के आने पर और पूछने पर वह ठीक-ठीक बात कर देता है। आनेवाला कहता है—"यह तो भला आदमी है, समझदार है। इसे क्यों बाँध रक्खा है?" आप कहते हैं यह जो बोल रहा है, सो पागलपन की हालत में ही बोल रहा है! क्योंकि यह पागल अभी प्रेम से बातें कर रहा है और अभी-अभी मारने को तैयार हो जाता है। वह एक क्षण पिता को पिता कहता है, तो दूसरे ही क्षण पिता को पुत्र भी कह देता है। उसके दिमाग में पिता और पुत्र के संबंध में कोई स्पष्ट कल्पना नहीं है, विवेक नहीं है। वह अपनी कल्पना की लहरों में बह रहा है। भाग्य-भरोसे जो कुछ भी मुँह से निकल गया, सो निकल गया! वह स्वयं ही नहीं समझता कि मैं क्या कह रहा था और अब क्या कह रहा हूँ और मुझे क्या कहना चाहिए।

ऐसी स्थिति में उसके मुँह से निकली हुई सत्य बात को भी आप प्रामाणिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इसका कारण यही है कि बोलने के पीछे भी चिन्तन और विवेक होना चाहिए;

विचार और मन्थन होना चाहिए। जब ज्ञान जाग उठता है और उसकी रोशनी में बोला जाता है, तभी वह बोलना सत्य समझा जा सकता है, अन्यथा असत्य होता है।

तात्पर्य यह है कि जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व की मलीनता है और अज्ञान का घोर अंधकार छाया है, उसकी अहिंसा, वास्तव में अहिंसा नहीं है, और उसका सत्य वास्तव में सत्य नहीं है। उसका ऊपरी व्यवहार कितना ही भला क्यों न दिखाई दे; परन्तु वह अन्तर से उद्भूत, विवेक-प्रसूत सदाचार की कोटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। पहले विवेक की भूमिका आनी चाहिए और बाद में आचरण की भूमिका आनी चाहिए। भगवान् महावीर ने कहा है—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहीय सेय-पावगं॥

दशवैकालिक, ४।१०

अर्थात् पहले ज्ञान है, विवेक है और विचार है। ज्ञान का प्रकाश जब जगमगाता है तभी आचरण आता है। बेचारा अज्ञानी क्या कर सकता है ? उसे श्रेय का कैसे पता लगेगा और पाप का कैसे पता चलेगा ? वह धर्म और अधर्म को किस प्रकार समझ सकेगा ?

इस प्रकार हमारी सैद्धान्तिक भूमिका निश्चित हो चुकी है कि व्यवहार में हम कुछ भी कहते रहें, किन्तु वास्तव में सत्य की पृष्ठ-भूमि में सत्य होना चाहिए। सत्य के पीछे लोभ, लालच और वासना की भावनाएँ नहीं होनी चाहिएँ। जहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ और वासना की विद्यमानता है और मुँह से सत्य बोला जा रहा है, तो आगम उस सत्य को स्पष्ट शब्दों में असत्य ही करार देता है। भगवान् महावीर कहते हैं—

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति य।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥
—दशवैकालिक, ७।१२

दुर्भाग्य से कोई मनुष्य काणा या अंधा हो गया है। उसे लोग एकाक्षी या अंधा कहते हैं। ऐसा कहना लौकिक दृष्टि से असत्य नहीं माना जाता; क्योंकि वह वास्तव में काणा या अंधा है और उसे वैसा ही कह दिया गया है। किन्तु भगवान् महावीर की मर्मज्ञ दृष्टि बतलाती है कि अगर काणे को काणा और अंधे को अंधा कह दिया गया है, तो वह भी अपने-आप में असत्य है, और ऐसा कहने का आपको अधिकार नहीं है।

अभिप्राय यह है कि आप जब अन्धे को अन्धा और काणे को काणा कहते हैं, तो सत्य का उद्‌घाटन करना आपका अभिप्राय नहीं होता। आपके कथन में व्यंग्य और घृणा मिली होती है, आप उसके चित्त पर चोट करके प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते हैं; उसकी हीनता का उसे बोध करा कर अपनी महत्ता का अनुभव करने की आसुरी वृत्ति आपके अन्तस्तल में उछालें मार रही होती है। आप उसे चिढ़ाना चाहते हैं, खिझाना चाहते हैं। यह दुष्ट मनोवृत्ति है। जहाँ इस प्रकार की दुष्ट मनोवृत्ति है, वहाँ अन्धे को अन्धा, काणे को काणा और रोगी को रोगी कहना ऊपरी तौर पर सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है; आगम की भाषा में यह असत्य है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अन्धे को अन्धा और काणे को काणा कहना तथ्य हो सकता है; परन्तु सत्य नहीं हो सकता। यहा तथ्य और सत्य के अभिप्राय में जो अन्तर किया गया है, उसे समझ लेना चाहिए। जो बात जैसी है, उसे वैसी ही कह देना; फिर चाहे उसका आधार कुछ भी हो, किसी भी

अभिप्राय से वह कही गई हो और उसका फल भी चाहे जो हो, उसे तथ्य कहेंगे। तथ्य कभी हितकर हो सकता है और कभी अहितकर भी। जब वह अहितकर होता है और उसमें हिंसा एवं द्वेष का विष मिश्रित होता है, तो वह असत्य बन जाता है।

इस सब विवेचन का अभिप्राय यह हुआ कि मन का सत्य आना चाहिए और मन का सत्य जब आ जाता है, तभी वाणी का सत्य आता है।

सिद्धान्त की चर्चा चलती है। अनेक व्यक्ति उस चर्चा में सम्मिलित हैं। उनमें कोई साधु या श्रावक भी है। चर्चा के परिणाम-स्वरूप उसकी एक धारणा बन जाती है। मान लीजिए कि उसने जो धारणा बनाई है, वह सही नहीं, गलत है। परन्तु उस गलत धारणा को वह सही ही समझता है और सही मानकर ही उसका चिन्तन और मनन करता है। उसे कोई ज्ञानी और कोई साधक इतना ऊँचा नहीं मिला, जो उसकी गलत धारणा को तोड़ दे और वह अपने विचारों का समर्थन कर रहा है। ऐसी स्थिति में आप उसे सम्यग्दृष्टि कहेंगे या मिथ्यादृष्टि ?

आज की स्थिति में तो इस प्रश्न का उत्तर सरल है। आप झट कह देते हैं कि अमुक ने शास्त्र का यह अर्थ कर दिया, तो उत्सूत्र-प्ररूपणा हो गई! अमुक ने ऐसा कह दिया तो, यह हो गया और वह हो गया! मगर हमें सिद्धान्त से इस प्रश्न का उत्तर माँगना है।

भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य एक चीज है और सत्य की दृष्टि दूसरी चीज है। सम्यग्दृष्टि में सत्य की दृष्टि होती है। उसका अपना दृष्टिकोण होता है। उसकी यात्रा सत्य के लिए होती है। वह जो भी ग्रहण करता है, सत्य के रूप में ही ग्रहण करता है; फिर भी हो सकता है कि वह सत्य न हो। किन्तु उसकी

इतनी बड़ी तैयारी है और इतने बड़े विचारों की भूमिका है कि जब कभी सत्य की उसे उपलब्धि होगी, तो उसे अपने अज्ञान, अहङ्कार, प्रतिष्ठा और कहे हुए बोलों का कोई आग्रह नहीं होगा। वह विना झिझके, विना रुके, सत्य को ग्रहण कर लेगा।

जब मनुष्य सर्वज्ञता की भूमिका पर पहुँचता है, तभी उसका ज्ञान पूर्ण होता है, तभी उसे उज्ज्वलतम प्रकाश मिलता है, तभी उसे परिपूर्ण वास्तविक सत्य का पता लगता है। मगर उससे नीचे की जो भूमिकाएँ हैं, वहाँ क्या है? जहाँ तक विचार सत्य को आज्ञा देते हैं, मनुष्य सोचता है और आचरण करता है। फिर भी संभव है कि सोचते-सोचते और आचरण करते-करते ऐसी धारणाएँ बन जाएँ, जो सत्य से विपरीत हों। किन्तु जब कभी सत्य का पता चल जाय और भूल मालूम होने लगे, यह समझ आ जाय कि यह गलत बात है, तो उसे एक क्षण भी मत रक्खो और सत्य को ग्रहण कर लो। गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर लो। यह सत्य की दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि की भूमिका है।

छठे गुणस्थान में सत्य महाव्रत होता है; किन्तु वहाँ पर भी गलतियाँ और भूलें हो जाती हैं। पर गलती या भूल हो जाना एक बात है और उसके लिए आग्रह होना दूसरी बात है। सम्यग्दृष्टि भूल करता हुआ भी उसके लिए आग्रहशील नहीं होता; उसका आग्रह तो सत्य के लिए ही होता है। वह असत्य को असत्य जानकर कदापि आग्रहशील न होगा। जब उसे सत्य का पता लगेगा, वह स्पष्ट शब्दों में, अपनी प्रतिष्ठा को जोखिम में डालकर भी यही कहेगा—"पहले मैंने ऐसा कहा था, इस बात का समर्थन किया था और अब यह सत्य बात सामने आगई है, तो इसे कैसे अस्वीकार करूँ?" इस प्रकार वह उसी क्षण सत्य को स्वीकार करने के लिने उद्यत हो जायगा। इसका अभिप्राय यह है

कि जहाँ सत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य है और जहाँ असत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य नहीं है।

जीवन के मार्ग में कहीं सत्य का और कहीं असत्य का ढेर नहीं लगा है कि उसे बटोर कर ले आया जाय। सत्य और असत्य तो मनुष्य की अपनी दृष्टि में रहा हुआ है। इसी बात को भगवान् महावीर ने नंदी-सूत्र में कहा है :—

"एआणि मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं, एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।"

कौन शास्त्र सच्चा है और कौन झूठा है, जब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, तो एक बहुत बड़ा निरूपण हमारे सामने आया। इस सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है।

शास्त्र अपने-आप में है तो सही, मगर अपना निरूपण वह आप नहीं करता। उसका निरूपण, ग्रहण करने वालों के द्वारा किया जाता है। ग्रहण करने वालों की भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और इस कारण उसका निरूपण भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। उस निरूपण में विभिन्नता ही हो, सो बात नहीं, विरुद्धता भी देखी जाती है। शास्त्र के अक्षर वही हैं, फिर भी उनका अर्थ एक पूर्व की ओर जाता है, तो दूसरा पश्चिम की राह पकड़ता है। इसका कारण क्या है ? और ऐसी स्थिति में उस शास्त्र को सम्यक्शास्त्र कहा जाय या मिथ्याशास्त्र कहा जाय ?

भगवान महावीर कहते हैं, अगर साधक की दृष्टि सत्यमयी है, वह सम्यग्दृष्टि है और सत्य की रोशनी से उसने अपने मन के दरवाजे खोल रक्खे हैं, तो उसके लिए वह शास्त्र सम्यक्शास्त्र है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि के लिए वही शास्त्र मिथ्याशास्त्र हो जाता

है; क्योंकि उसकी दृष्टि उसे मिथ्या रूप में ही ग्रहण करती है। इस प्रकार ग्रहण करने वाले की दृष्टि ही शास्त्र को सम्यक् या मिथ्या बना देती है। दृष्टि यदि सम्यक् है, तो उसके द्वारा जो भी ग्रहण किया जायगा, सम्यक् ही होगा; और यदि दृष्टि में मिथ्यात्व है, तो वह जो भी ग्रहण करेगी, सब मिथ्या के रूप में ही परिणत हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः मनुष्य की दृष्टि ही एक सांचा है, जिसमें सत्य और असत्य की ढलाई होती है।

इस प्रकार हमारे पास जीवन की वह कला है कि हम जहर को अमृत और अमृत को जहर बना सकते हैं।

भगवान् महावीर के पास एक ओर गौतम, सुधर्मा और जम्बू आये और दूसरे सहस्रों साधक आये। उन्होंने भगवान् के संसर्ग से अपने जीवन की चमक प्राप्त की। दूसरी ओर गोशाला भी आया। वह निरन्तर छह वर्षों तक उनके साथ रहा। पर क्या हुआ? जब दुबारा मिलता है, तो भगवान् के शिष्यों को मारने के लिए तैयार होता है और दो साधुओं को भस्म कर देता है। इस प्रकार स्वयं भगवान् गौतम आदि के लिए तो सत्य बने; किन्तु गोशाला और उसी सरीखे दूसरों के लिए असत्य बन गये? गौतम आदि को भगवान् के द्वारा स्वर्ग और मोक्ष की राह मिली, जब कि उनसे विपरीत दृष्टि वालों को नरक की राह मिली!

आशय यह है कि वस्तु तो निमित्त-मात्र है। चाहे शास्त्र हो, वाणी हो अथवा व्यक्ति हो, सब निमित्त ही हैं। साक्षात् भगवान् भी हमारे लिए भगवान् हैं और अज्ञानदृष्टि के लिए भगवान् नहीं हैं। आपने भगवान् से अगर प्रकाश प्राप्त किया है, प्रेरणा प्राप्त की है, तो इसका कारण यही है कि आपको सम्यग्-दृष्टि प्राप्त है। और दूसरों ने अगर उन्हीं से घृणा एवं द्वेष प्राप्त किया, तो इसका कारण उनकी मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार शास्त्र

और भगवान् सब तटस्थ रहते हैं; किन्तु दुनिया के पास जैसा-जैसा कैमरा होता है, वैसी ही वैसी तस्वीर खिंचती रहती है। जिसके मन का कैमरा साफ है, उसके अन्दर साफ तस्वीर खिंचेगी और जिसका कैमरा मलीन तथा गलत रूप में है, उसके अन्दर भद्दी और बदसूरत तस्वीर खिंचेगी। अतएव कैमरा मुख्य है। अगर आपके मन का कैमरा ठीक है और सत्य की रोशनी ग्रहण कर सकता है, तो उस स्थिति में भगवान् और शास्त्रों से भी सत्य की उपलब्धि हो सकेगी। आपको सर्वत्र सुगंध मिलेगी, दुर्गन्ध नहीं मिलेगी। इसके विपरीत, जिसके मन का कैमरा ठीक नहीं है और जिसे उस कैमरे को ठीक ढंग से प्रयोग करने की कला नहीं आई है, वह साधारण आदमी का भी गला घोंट देगा और आचार्य, महाचार्य या भगवान् भी क्यों न हों, उनका भी गला घोंट देगा। गोशालक ने छह वर्ष पर्यन्त सेवा में रहने के बाद भी भगवान् को भगवान् के रूप में नहीं पाया और घोषणा की कि मैं ही सच्चा हूँ और भगवान् झूठे हैं!

तो वास्तव में मनुष्य का चिन्तन ही मुख्य है। भगवान् का जो चिन्तन है और वाणी है, सो अपने-आप में सत्य है और तथ्य है; मगर हे साधक! तेरे लिए सत्य-तथ्य वह तब होगा, जब तू अपने मन को धोकर साफ कर लेगा। तेरा मन सत्य को ग्रहण करने के लिए तैयार होगा, तो संसार के जो भी शास्त्र हैं, सभी तेरे लिए सत्य का रूप धारण कर लेंगे। तू शास्त्रों का बँटवारा करके चल रहा है, सो ठीक है; मगर सब से बड़ी बात तो यही है कि तेरे भीतर सत्य विद्यमान है या नहीं? यदि तेरे भीतर सत्य विद्यमान है, तो तुझे संसार में भी सत्य मिलेगा। अगर तेरे भीतर सत्य न होगा, तो तुझे कहीं भी सत्य की प्राप्ति न हो सकेगी, समग्र संसार तेरे लिए असत्य बन जायगा।

संसार के पदार्थ तो चक्कर काटते ही रहते हैं। उनमें शास्त्र, साधु और गुरु वगैरह भी हैं और वे फिल्म की तरह आ रहे हैं और जा रहे हैं। वे अपने-आपमें कोई पाप या पुण्य नहीं बिखरते जाते हैं। पदार्थों से पाप और पुण्य नहीं बिखरता है; किन्तु उन शास्त्रों या पदार्थों को देखने के बाद जो शुभ या अशुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वही हमारे मन को प्रभावित करती रहती हैं। किसी शास्त्र के अध्ययन के पश्चात् या सत्पुरुष के दर्शन के बाद मन में जब शुभ वृत्तियाँ जागती हैं, उस समय हमारा मन पुण्य का उपार्जन करता है, पुण्यमय बन जाता है। और उसी पदार्थ से किसी दूसरे के मन में यदि, घृणा, द्वेष और अहंकार जागता है और वह बुरी वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है, तो वह पाप का संग्रह कर लेता है। वह अपने जीवन को अपने-आप में बुरे रूप में ढाल लेता है।

जैनधर्म ने एक बहुत बड़ी बात की है। वह किसी भी स्थूल पदार्थ, शास्त्र और भगवान् के रूप में सत्य और असत्य का निर्णय करने को नहीं चला है, वरन् वह साधक की अपनी भूमिका में से ही निर्णय करने चला है। जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह गुरु से सत्य को ग्रहण कर सकेगा और यदि दृष्टि में असत्य है, तो गुरु से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार सब से पहले अपनी भूमिका तैयार करनी है। भूमिका तैयार न होगी, तो कुछ न होगा।

एक चोर कहीं से बढ़िया और सुन्दर घोड़ी चुरा लाया। उसने वह लाकर घर में बाध दी; मगर बैठने से रहा। बाँधने को तो बाँध दी, मगर सोचने लगा—"इसका अब क्या किया जाय ? इस पर सवार होकर निकलूँगा तो पकड़ा जाऊँगा। सवारी न करूँ तो यह मेरे लिए किस काम की है ?" आखिर, उसने घोड़ी को सिक्के के रूप में बदल लेने का निश्चय किया।

किसी जगह पशुओं का मेला लगता था। चोर उस घोड़ी को लेकर वहाँ गया। वह उसे मेले के बीच में न रखकर किनारे-किनारे फिरने लगा और जो भी मिलता, उसी से पूछता—"क्या घोड़ी खरीदनी है ?"

एक आदमी की निगाह बड़ी पैनी थी। उसने भाँप लिया कि यह चोर है और इसी कारण इतनी सुन्दर घोड़ी को किनारे पर लेकर चल रहा है। अवश्य यह घोड़ी चोरी की होनी चाहिए। इस प्रकार सोच कर वह उसके पास आया और बोला—"घोड़ी किसकी है ?"

चोर ने कहा—मेरी है।

'क्या बेचोगे इसको ?'

'हाँ, बेचने के लिए ही तो लाया हूँ।'

'अच्छा, क्या कीमत है इसकी ?'

यह प्रश्न सुनकर चोर पशोपेश में पड़ गया। घोड़ी उसकी खरीदी हुई नहीं थी और न उसके पुरखाओं ने ही ऐसी घोड़ी कभी खरीदी थी। वह घोड़ी की उचित कीमत बतलाने में असमर्थ हो गया। मगर चुप रहने से भी काम नहीं चल सकता था। अतएव उसने कुछ सोच-विचार कर एक कीमत बतला दी।

कीमत सुनकर खरीददार समझ गया कि इसके बाप-दादाओं ने भी कभी घोड़ी नहीं रक्खी है। यह वास्तव में चोरी का माल है। फिर भी खरीददार ने गंभीरता से कहा—"कीमत तो बहुत ज्यादा है, मगर घोड़ी बहुत सुन्दर है, अतएव मैं कीमत की परवाह नहीं करता। लेकिन मैं देखना चाहता हूँ कि जैसी यह देखने में सुन्दर है, वैसी चाल में भी सुन्दर है या नहीं ?"

चोर ने कहा—"अच्छी बात है। सवारी करके चाल देख लीजिये।"

खरीददार ने अपनी गुड़गुड़ी (हुक्का) चोर को देकर कहा—"इसे आप रखिए और मैं घोड़ी की परीक्षा कर लेता हूँ।"

गुड़गुड़ी हाथ में आई, तो चोर के मन में विश्वास हो गया। खरीददार घोड़ी की पीठ पर सवार हुआ। ज्यों ही उसने एड़ लगाई कि घोड़ी हवा से बातें करने लगी।

चोर पीछे-पीछे भागा। खरीददार ने उससे कहा—"क्यों भागकर आता है? यह घोड़ी तेरी नहीं है। यों ही मालिक बना फिरता है। खबरदार जो पीछे आया।"

चोर के घर चोरी हो जाय, तो बेचारा पुकारने से भी रहा। आखिर वह गुड़गुड़ी (हुक्का) लेकर, अपना-सा मुँह लिये घर लौट आया। पड़ौस वालों ने पूछा—"लौट आये? घोड़ी कितने में बेची?"

उसने मन मसोस कर कहा—"जितने में लाये थे, उतने में ही बेच आये।"

पूछा गया—"नफे में क्या लाये?"

चोर ने उत्तर दिया—"यह गुड़गुड़ी। घोड़ी तो जैसी आई थी वैसी ही चली गई; कलेजा जलाने के लिये गुड़गुड़ी हाथ में रह गई।"

आचार्यों ने यह रूपक बतलाया है। अभिप्राय है यह कि संसार के पदार्थ तो जैसे आते हैं, वैसे ही चले जाते हैं। वे अपने-आप में कोई नफा-नुकसान नहीं रखते। इन्सान की जो भावनाएँ हैं, उन्हीं से पुण्य का नफा और पाप का नुकसान होता है। मनुष्य क्या लेकर यहाँ आया है? और जब यहाँ से जाएगा, तो क्या लेकर जाएगा? सब-कुछ यहीं रखकर चला जाएगा। परन्तु अपनी भली या बुरी वृत्तियों के संस्कार अवश्य साथ जाएँगे। वृत्तियाँ अच्छी रही हैं, तो उनके द्वारा पुण्य का महान प्रकाश प्राप्त हो जाता है, और यदि उसकी वृत्तियों में घृणा, द्वेष, ममता, क्रोध, मान, माया और लोभ रहे हैं, तो उसे पाप के अंधकार में विलीन होना पड़ेगा। मतलब यह है कि संसार के पदार्थ तो आते और जाते रहते हैं, इनसे हमारा कोई

बनाव-बिगाड़ नहीं होता; उन पदार्थों के प्रति हमारी जो भावनाएँ होती हैं, उन्हीं से शुभ या अशुभ फल की प्राप्ति होती है भगवान् महावीर ने कहा है :—

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेइ ।
जो तप्पओसी य परिग्गहीअ,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

—उत्तराध्ययन, ३२ । १०१

इस प्रकार भगवान् महावीर का मार्ग एक परम सत्य क उपदेश देने को आया है। आखिरकार शास्त्र की, भगवान् की या किसी भी व्यक्ति की ऊँचाई को मालूम करने के लिए तुझे अपने मन को ऊँचा बनाना पड़ेगा, संकल्प को पवित्र बनाना होगा। तभी सत्य की उपलब्धि होगी। अगर सत्य को ग्रहण करने की तैयारी नहीं है, मिथ्यात्व और अन्धकार में फँसा है, तो साक्षात् भगवान् को पा जायगा, तो उनको भी भगवान् नहीं मानेगा। जिसकी बुद्धि शैतान की है, उसे भगवान् भी शैतान के रूप में ही नजर आएँगे।

तात्पर्य यह है कि हम बोलचाल की भाषा में जिसे सत्य कहते हैं, सिद्धान्त की भाषा में वह कभी असत्य भी हो जाता है और कभी-कभी बोलचाल का असत्य भी सत्य बन जाता है। अतएव सत्य और असत्य की दृष्टि ही प्रधान वस्तु है। जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह वास्तव में सत्य का आराधक है। सत्य की दृष्टि कहो या मन का सत्य कहो, एक ही बात है। इस मन के सत्य के अभाव में वाणी का सत्य मूल्यहीन ही नहीं वरन कभी-कभी धूर्तता का चिह्न भी बन जाता है। अतएव जिसे सत्य भगवान् की आराधना करनी है, उसे अपने मन को सत्यमय बनाना होगा, सत्य के पीछे विवेक को जागृत करना होगा।

दुर्गमपथस्तत् कवयो वदन्ति

जहाँ तक वाणी के सत्य का सम्बन्ध है, कोई खास द्वन्द्व नहीं है; आपके या हमारे सामने कोई संघर्ष नहीं है। फिर भी कुछ अटपटी बातें हैं, जो हमारे सामने आती रहती हैं और जिनके लिए विवेक एवं विचार की अपेक्षा रहती है। बोलने के सत्य को लेकर भी कभी-कभी टेढ़ी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं और इसके लिए हमें शास्त्रों का निर्णय लेना आवश्यक हो जाता है।

आम तौर पर सत्य का विषय एक सरल विषय समझा जाता है और झटपट उस पर अपना निर्णय घोषित कर दिया जाता है; किन्तु जहाँ तक सैद्धान्तिक प्रश्न है, मनुष्य के चिन्तन और मनन का प्रश्न है, यह विषय इतना सरल नहीं है। सत्य की बात ऐसी नहीं कि दो टूक निर्णय दे दिया जाय और फिर वह बात वहीं समाप्त हो जाय। हज़ारों वर्षों से मनुष्य निरन्तर चिन्तन करता आ रहा है और महापुरुषों से रोशनी लेता आ रहा है; फिर भी अँधेरा उसको घेर कर खड़ा हो जाता है, उसे मार्ग मिलना कठिन हो जाता है।

हमें सत्य को क्यों ग्रहण करना चाहिए? हमको या हमारे साथियों को सत्य मिला है या नहीं? या जिन्होंने कहा है, वह सत्य है अथवा नहीं? इत्यादि गंभीर प्रश्न आज भी हमारे सामने खड़े हो जाते हैं।

मैंने कहा है कि सत्य का मार्ग बहुत टेढ़ा है और जब हम सिद्धान्त पर विचार करने लगते हैं, सहज ही हमें मालूम होने लगता है कि हम चल रहे हैं, चलते जा रहे हैं, फिर भी निर्णय हम से बहुत दूर होता जाता है। ऐसी स्थिति में हम अपनी कुछ कल्पनाओं के बल पर सत्य और असत्य का निर्णय करने बैठ जाते हैं, तो हमारी कल्पनाएँ हमारे लिए अच्छा मार्ग नहीं बनाती हैं, बल्कि हमारे मार्ग को और टेढ़ा कर देती हैं और हम भटक जाते हैं। भारत के एक ऋषि ने कहा है :—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गमपथस्तत् कवयो वदन्ति।

अर्थात् सत्य का मार्ग छुरे की धार के समान है, तलवार की धार के समान तीखा है। जिसे तलवार की धार पर चलना है, वह असावधानी से नहीं चलेगा। उस पर चलने के लिए बड़ी तैयारी की आवश्यकता होती है, अपने-आपको एकाग्र और तन्मय बनाने की आवश्यकता है। तलवार की धार पर चलने में जरा भी असावधानी हो जाय, तो वह धार पैर में चुभ जाती है, रक्त बहने लगता है और मनुष्य पीड़ा के वशीभूत हो जाता है।

वह ऋषि आगे कहता है कि—यह मार्ग वह मार्ग है कि बड़े-बड़े विद्वान भी इसको दुर्गम कहते हैं। अतएव तुम अगर इस मार्ग पर आना चाहते हो, तो तयारी करके आओ, विचार और चिन्तन का बल लेकर आओ। असावधान होकर चलने को उद्यत होओगे, तो मार्ग नहीं मिलेगा और भटक जाओगे। गीता में कहा है कि :—

किं कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

कभी-कभी ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है, सत्य क्या है और असत्य क्या है, इस प्रश्न का उत्तर पाने में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोह में पड़ जाते हैं। साधारण जनता तो मोह में पड़ी है, सो पड़ी ही है, विद्वान् भी उसी श्रेणी में खड़े हो जाते हैं। वास्तव में यह उन विद्वानों का या उनकी विद्वत्ता का दोष नहीं, सत्य की दुरूहता ही उनके मोह का कारण होती है। इससे हम सत्य की असीम जटिलता का अनुमान कर सकते हैं। एक आचार्य कहते हैं :—

को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।

सत्य का सागर असीम और अपार है। इसमें छलांग मारना सहज नहीं है। कोई-कोई असाधारण धीवर—ज्ञानी ही इसमें छलांग मार कर सकुशल किनारे पहुँच पाते हैं। साधारण आदमी के वश की यह बात नहीं है।

सत्य के सम्बन्ध में पर्याप्त तैयारी के साथ जो विचार करना चाहता है, उसे सत्य के प्रति नम्र होना चाहिए। फिर जो निर्णय आए, उसके सामने अपने अहंकार को खड़ा नहीं करना चाहिए। अगर आप सत्य के आगे अहंकार को खड़ा कर देंगे, तो सत्य की झांकी नहीं पा सकेंगे। आपके अहंकार की काली परछाईं में सत्य का समुज्ज्वल रूप छिप जाएगा। सत्य के बदले अहंकार ही आपके हाथ लगेगा और इस प्रकार आपका अहंकार ही आपको ठग लेगा।

सत्य का मार्ग तलवार की धार के समान तीखा तो बतलाया ही गया है, हमारे एक सन्त ने तो यहाँ तक कहा है कि तलवार

की धार भी इसके आगे कुछ नहीं है। सन्त आनन्दघन कहते हैं :—

धार तरवार की सोहिली, दोहिली चौदमा जिनतणी चरणसेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।
—भ० अनन्तनाथ की स्तुति

आनन्दघनजी कहते हैं–उस प्रभु की सेवा बड़ी ही कठिन है। वह सेवा धूप-दीप की सेवा नहीं है, चढ़ावे की सेवा नहीं है और सिर झुकाने की भी सेवा नहीं है। यह सब सेवाएँ तो बहुत आसानी से हो सकती हैं और हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र में उनका कोई स्थान भी नहीं है। प्रभु के मार्ग पर चलना, सत्य के मार्ग पर चलना ही प्रभु की उपासना या सत्य की उपासना है।

आज समाज ने स्थूल सेवा का रूप पकड़ लिया है। वह रूप नाटकीय ढँग से जीवन में उतर गया है। लोग उसी रूप पर मुग्ध हैं और उससे आगे की कुछ सोचते भी नहीं हैं। मगर सन्त आनन्दघन कहते हैं कि अमुक ढंग से उठना, बैठना, सिर झुकाना या कोई चीज़ चरणों में चढ़ा देना आदि की सेवाएँ तलवार की धार से तेज नहीं हैं। बल्कि तलवार धार पर चलना, नाचना और उछलना-कूदना तो सहज है, मुश्किल नहीं है! यह तो शरीर की अंग-भंगियाँ हैं, शरीर की विशेषताएँ हैं। शरीर पर नियंत्रण कर लेने से तलवार की धार पर नाचा जा सकता है और हजारों आदमियों की तालियों की गड़गड़ाहट भी प्राप्त की जा सकती है; मगर जिनेश्वर देव की सच्ची सेवा करना बड़ा ही कठिन है।

सन्त कहते हैं—तलवार की धार पर तो साधारण से साधारण आदमी भी और बाजीगर भी नाच लेता है और अपना तमाशा दिखा जाता है; यह तो मामूली बात है। किन्तु सेवा की

धार इतनी तेज और नुकीली है कि उस पर तो देवताओं के भी पैर नहीं टिकते हैं। देवता की ऐसी शक्ति है कि उसके पीछे इन्सानी दुनिया पागलों की तरह दौड़ी जा रही है, धर्म और अधर्म के विवेक को ताक में रखकर केवल इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए दौड़धूप मचा रही है; किन्तु ईश्वरीय सेवा के आगे तो उन देवताओं की भी शक्ति हीन और दीन है। एक दृष्टान्त लीजिए:—

जब भगवान् महावीर दशार्णपुर नगर के बाहर बाग में पधारे और उनके पधारने की खबर लगी, तो राजा दशार्णभद्र के हृदय में भक्ति और प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। प्रमोद और उल्लास से उसका मन जगमगा उठा। मगर इस भक्ति, प्रेम, प्रमोद और उल्लास के पीछे चुपचाप अहंकार भी मन में घुस आया। राजा सोचने लगा—"प्रभु पधारे हैं, मेरे आराध्य का आगमन हुआ है, जीवन को प्रकाश देने वाले ने पदार्पण किया है, मैं उनके चरणों में वन्दन करूँगा, तो भव-भव के बंधन कटेंगे। मैं उन प्रभु के चरणों में जाऊँ, तो इस प्रकार जाऊँ कि इससे पहले कोई न गया हो, और न भविष्य में ही कोई जा सके।"

मनुष्य का मन बड़ा ही विचित्र है। वह अनन्त-अनन्त काल को बाँधने लगता है। सोचता है—ऐसा करूँ कि जैसा किसी ने आज तक न किया हो। यों करूँ, त्यों करूँ। परन्तु हे क्षुद्र मानव! तू क्या चीज है? अरे तू एक साधारण मिट्टी का ढेला है। तेरे जीवन में जो भी भौतिक शक्तियाँ हैं, सम्पत्तियाँ हैं और तेरे जो भी प्रयत्न हैं, सब छोटे-से घेरे में बँधे हैं। फिर भी तू ऐसा करना चाहता है कि अनन्त भूतकाल और अनन्त भविष्यत् काल में उसकी तुलना न हो सके? तू अपने क्षुद्र जीवन को

क्षुद्र चेष्टाओं से अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य को आक्र
करना चाहता है, उन्हें बाँध लेना चाहता है।

राजा दशार्णभद्र के मन में ऐसी वृत्ति जाग उठी। वह अ
भक्ति की मीठी और मधुर लहर को, जिसमें वह कर मनु
जीवन के प्रशस्त मार्ग को प्राप्त कर लेता है, स्थूल भौतिकता
रूप देने को तैयार हो गया। फिर क्या था? हाथी, घोड़े,
और पैदल सेनाएँ सजाई जाने लगीं। उसने इसी को दर्शन
रूप दे दिया। मनुष्य के मन को विकारमयी वृत्तियाँ घेर लेती है

उधर भगवान् का समवसरण लगा है, सत्य का प्रक
हो रहा है और ज्ञान की गंगा वह रही है। इधर राजा दशार्ण
को भक्ति गलत रूप में घेर कर खड़ी हो गई है।

यह सब सूचना इन्द्र को मिल जाती है। इन्द्र सोचता है-
"राजा के मन में भगवान् के प्रति भक्ति तो जागी है; किन्तु उ
भक्ति के पीछे जो अहंकार आ रहा है, वह जहर आ रहा है
वह जहर कहीं अमृत में घर न कर ले, अतएव राजा को औ
राजा के बहाने दुनिया को सच्ची राह बतानी ही चाहिए। ऐस
सोचकर इन्द्र ने भी प्रभु के चरणों में चलने का विचार क
लिया।

इधर से राजा अभूतपूर्व तैयारी करके रवाना हुआ। वह
अपने उस वैभव को देखकर मुग्ध हो रहा है। वह अपने ऐश्वर्य
की उस चमक को देखकर स्वयं ही चकाचौंध-सा हो गया। सोचने
लगा—"मैंने जो सोचा था, पूरा हो गया।"

किन्तु यह क्या? सामने से इन्द्र का सजा हुआ हाथी आ
रहा है! दैवी वैभव का यह असीम सागर उछलता, उमड़ता

आ रहा है। देवों के वैभव का क्या पूछना है? मन में आया, वैसा ही वैभव बनाते उन्हें देर नहीं लगती।

हाँ, तो वह अलौकिक स्वर्गीय वैभव जब राजा दशार्णभद्र के सामने आया, तो उसकी सारी तैयारियाँ फीकी पड़ने लगीं। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह किसी दरिद्र और नगण्य व्यक्ति की तैयारी है! वह सोचने लगा—"यह कौन आ गया?" इतने ही में देवताओं की आवाज आने लगी—"हम तो बड़ी सवारी के आगे-आगे ध्वजा उठाने वालों में से हैं। हम तो खाली ढोल पीटने वाले हैं। हम तो किसी गिनती में ही नहीं हैं। स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र की सवारी तो अभी पीछे आ रही है।"

राजा दशार्णभद्र यह सब देख-सुनकर चकित रह गया। मन ही मन सोचने लगा—"तुझे आज चुनौती मिली है। यह इन्द्र नहीं आया बल्कि तेरे अहंकार को चूर करने के लिए चुनौती आई है। जब इन्द्र की सवारी का साधारण रूप यह है, तो उसके पीछे क्या रूप होगा?"

राजा आगे बढ़ा और यथास्थान पहुँच गया। राजा जब प्रभु के चरणों में पहुँचा, तो उसके दिल के टुकड़े-टुकड़े होगये। उस क्षत्रिय का मान भंग हो गया था और उसे ऐसा जान पड़ता था, मानो खून सूख गया है! मगर अंधकार में गिरते-गिरते भी एक प्रकाश की किरण जब मिली, तो बोला—मैं भी इन्द्र को चुनौती दूँगा। जो मनुष्य कर सकता है, वहाँ देवता भी कदम नहीं बढ़ा सकता। जहाँ मनुष्य पहुँच सकता है, वहाँ इन्द्र की भी पहुँच नहीं हो सकती।

शास्त्रकारों ने बार-बार कहा है कि वैभव की दृष्टि से देवता कितने ही ऊँचे क्यों न हों; परन्तु मनुष्य में एक ऐसी असाधारण शक्ति है कि उसके आगे विश्व की समग्र शक्तियाँ दब

जाती है। राजा दशार्णभद्र को उसी मानवीय शक्ति का स्वाभिमान जाग उठा। राजा भगवान् के पास पहुँचा, तो वस्त्राभूषण, चँवर-छत्र आदि सब चीजें अलग फेंक कर और साधु का वेष धारण करके पहुँचा। उसने प्रभु के चरणों में पहुँच कर अभ्यर्थना की—"प्रभो! मैं आपकी चरण-शरण गहना चाहता हूँ। मैं आध्यात्मिक जीवन के पावन एवं सुन्दर वातावरण में विचरण करना चाहता हूँ। मुझे अन्तेवासी के रूप में अंगीकार कीजिए।"

भगवान् केवल ज्ञानी थे। उन्होंने देख लिया कि परिणति आ गई है। यह अहंकार से नहीं आई है। अहंकार की प्रेरणा से चला अवश्य था; किन्तु वह अहंकार भी सात्त्विक था। उसमें रजस् और तमस् का संसर्ग नहीं था। सात्त्विक अहंकार ने धक्का देकर इसे त्याग मार्ग पर अग्रसर कर दिया है और अब यह पीछे हटने वाला नहीं है, मुड़ने वाला भी नहीं है। यह तो आगे ही आगे बढ़ने वाला है।

बस, प्रभु ने राजा की अभ्यर्थना अंगोकार कर ली। 'अप्पाणं वोसिरामि' होते ही वह सन्त बनकर बैठ गये।

बाद में इन्द्र आया। वह भगवान् को नमस्कार करके इधर-उधर नजर दौड़ाने लगा कि वह कहाँ है, जो इतना अहंकार करके आया था? मैं उस अज्ञानी, अहंकारी का मुख म्लान देखना चाहता हूँ। इन्द्र ने इधर-उधर देखा, मगर राजा कहीं दिखाई नहीं दिया। बेचारे इन्द्र को क्या पता कि राजा ने एक ही छलांग में समुद्र पार कर लिया है!

आखिर भगवान् ने कहा—"इन्द्र! किसे खोज रहे हो? जहाँ दशार्णभद्र की भूमिका है, वहीं देखो। जहाँ उसकी भूमिका नहीं वहाँ क्यों देख रहे हो? अरे, वह तो मुनि बन चुके हैं।"

इन्द्र ने देखा—मुनि दशार्णभद्र के चेहरे पर एक अद्भुत तेज अठखेलियाँ कर रहा है। उनका ओजपूर्ण मुखमण्डल मानो इन्द्र के वैभव का उपहास कर रहा है। सत्य का विमल आलोक उनके चारों ओर प्रसृत हो रहा है और इन्द्र का मुख उनके आगे ऐसा जान पड़ता है जैसे सूर्योदय के पश्चात् चन्द्रमा !

इन्द्र आगे बढ़ा और मुनि दशार्णभद्र के चरणों में नतमस्तक हो गया। बोला—"आप जिस रूप को लेकर चले थे, उसकी आप ने पूर्ण रूप से रक्षा की। संसार के वैभव को इन्द्र चुनौती दे सकता है, मगर इस आध्यात्मिक और सत्य वैभव को चुनौती देने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मैं इस क्षेत्र में पामर हूँ—आगे नहीं बढ़ सकता। मेरी भूमिका वह भूमिका है कि अपने सांसारिक वैभव से दुनिया को नाप लूँ, मगर आध्यात्मिक वैभव से नहीं नाप सकता। आपने जो लोकोत्तर वैभव प्राप्त किया है और जिस उन्नतर भूमिका पर आप विराजमान हो गये हैं, उसके आगे तो इन्द्र चरणों की धूलि लेने को ही है !"

जैन-साहित्य और इतिहास का जो उल्लेख हमारे सामने है और जब कभी हम इस उल्लेख को पढ़ते हैं और सेवा का आदर्श हमारे सामने आता है, तो हम समझते हैं कि सत्य का मार्ग वही है, जिस पर दशार्णभद्र चले थे। किन्तु वह मार्ग इतना ऊँचा था कि देवता तो क्या, देवताओं का राजा भी वहाँ लड़खड़ा गया और आगे नहीं आ सका।

जीवन की ये सच्चाइयाँ वे सच्चाइयाँ हैं कि सहज भाव से निर्णय करने चलें, तो संभव है सत्य की रोशनी मिल जाय; अन्यथा देवताओं को भी यह ऊँचाइयाँ और सच्चाइयाँ प्राप्त नहीं हो रही हैं। उन्हें न साधु-जीवन की और न गृहस्थ-जीवन का ही ऊँचाइयाँ प्राप्त होती हैं।

सत्य की उपलब्धि करने के लिए आवश्यक है कि सत्य को सत्य के नाते ही मालूम करें; सम्प्रदाय, पूर्वबद्ध धारणा अथवा अहंकार के नाते सत्य को उपलब्ध करने का प्रयास करना अपने-आपको अंधकार में गिराना ही है। अपने स्वार्थ और रुचि के नाते सत्य को नापने का प्रयत्न मत करो। सत्य जब सत्य की दृष्टि से नापा और आँका जाता है, तभी उसकी उपलब्धि होती है। सच्चा सम्यग्दृष्टि सत्य की ही दृष्टि से देखेगा और देखते समय अपनी मान्यता का चश्मा नहीं चढ़ाएगा, बल्कि चढ़े हुए चश्मे को भी उतार देगा। इसके विपरीत जो मनुष्य सत्य मालूम होने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता है, उसके लिए सत्य ढक गया है, उसे सत्य की उपलब्धि नहीं होगी। उपनिषद् में कहा है:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये॥

—ईशावास्योपनिषद्

सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है। यहाँ सुवर्ण से अभिप्राय है अज्ञानमय मान्यताएँ। यह मान्यताएँ ही सोने का ढक्कन हैं, और सत्य उन्हीं के नीचे छिपा रहता है।

कल भी मैंने इसी संबंध में विचार किया था। कहाँ तक स्पष्टीकरण हुआ है या नहीं हुआ है, नहीं कहा जा सकता। हमारा पुरुषार्थ तो केवल पुरुषार्थ है। उसकी सार्थकता सत्य-परमात्मा के चरणों में श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने में है। हमें जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है, प्रामाणिकता के साथ, शुद्ध हृदय से, उसके आधार पर हमें सत्य को समझने का प्रयास करना है, निर्णय करना है; किन्तु आखिरी निर्णय तो प्रभु का ही निर्णय है। हमारा निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता।

शुद्ध हृदय कह लीजिए या सम्यग् दृष्टि कहिये, अभिप्राय एक ही है। इसके अभाव में सत्य का पता नहीं लग सकता।

एक तरफ मिथ्यादृष्टि है और दूसरी तरफ सम्यग्दृष्टि। मिथ्यादृष्टि का समस्त ज्ञान, अज्ञान है। उसको जो मतिज्ञान होता है अर्थात् पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान होता है, वह कानों से सुनता है, नाक से सूँघता है, जीभ से चख लेता है. आँखों से देखता है और शरीर से स्पर्श करता है। पाँचों इन्द्रियों से होने वाला यह ज्ञान मतिज्ञान की धारा है। इन पाँचों से अलग एक ज्ञान और है, जो इनके पीछे भी रहता है और अलग भी रहता है। हमारे इस शरीर में एक हजरत मुंशी रहते हैं और वे सब का लेखा-जोखा रखते हैं। उनका चिन्तन-मनन बराबर चालू रहता है। वह इन्द्रियों के साथ और अलग भी चल पड़ते हैं। उनका नाम मन है। इस प्रकार पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन, बस यही ज्ञान के साधन हमारे पास हैं।

मनुष्य विचारता है कि मैं ज्ञानी हूँ; किन्तु उसका ज्ञान क्या है? इस विराट सृष्टि में से उसे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ही, और वह भी अत्यन्त संकीर्ण दायरे में, पता चलता है। इससे आगे वह थक जाता है और कहता है—हमको कुछ पता नहीं है। इस प्रकार इस अखिल सृष्टि में से उसे सिर्फ पाँच बातें मालूम पड़ीं और इन पाँचों में से कोई भी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली नहीं है। इन्द्रियाँ चैतन्य-जगत् की ओर नहीं जा सकती हैं, वे तो जड़-जगत् की ओर ही जाती हैं। जड़-जगत् में जो अनन्त-अनन्त विशेषताएँ हैं, उनमें से केवल पाँच का अधूरा पता लगा पाती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य ने जो कुछ जाना है, मन के द्वारा जाना है। मनुष्य के पास बड़े-बड़े शास्त्रों की, अलंकार, न्यायशास्त्र, खगोल और भूगोल की जो धाराएँ चल रही हैं, वे

कहाँ से चल रही है। उन सब का स्रोत मनुष्य का मन ही है।

'मनुष्य' का अर्थ क्या है? किसी ने कहा—मनु के लड़के मनुष्य हैं। किसी ने कुछ और किसी ने कुछ कह दिया। व्याकरण भी ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ किया करता है। किन्तु ऐसी बातें गले उतरने वाली नहीं हैं। वास्तव में मनुष्य वह है, जो मनन करता है, चिन्तन करता है :—

'मननात् मनुष्यः।'

यास्क ने अपने निघंटु में कहा है :—

'मत्वा कार्याणि सीव्यन्तीति मनुष्याः।'

इस प्रकार मनु की बात किनारे रह जाती है। वस्तुतः मनुष्य वह है, जो चिन्तनशील हो, मननशील हो, जो अपने जीवन की गहराई को नापने चले और दूसरों के जीवन की गहराई को भी नापने चले। मनुष्य जड़-जगत् से परे चैतन्य-जगत् की भी थाह लेने चलता है और जहाँ तक उसकी बुद्धि काम देती है, वह संसार के रहस्यों को खोजने चलता है। मनुष्य हार नहीं मानता और संसार का कोना-कोना खोजना चाहता है।

मनुष्य ऐसी जगह खड़ा है जहाँ एक ओर पशुत्वभावना और दूसरी ओर देवत्वभावना आ रही है और जहाँ जीवन का भूला निरन्तर ऊँचा-नीचा होता रहता है। वह संसार का देवता है। ईश्वर होगा, मगर मनुष्य स्वयं उसकी सत्ता लेना चाहता है। जैनधर्म तो यही कहने आया है कि—"हे मनुष्य, तू स्वयं ही ईश्वर बन सकता है।"

चलो, और शास्त्रों की खोज करने चलो और उसके द्वारा मनुष्य का कल्याण करने को चलो; परन्तु यदि तुम्हारे भीतर अज्ञान भरा है और तुमने अपना तथा दूसरे का पता नहीं लगा पाया है, तो मनुष्य होकर क्या पाया ? कुछ भी तो नहीं पाया।

हाँ, तो असली चीज यह है कि जो मनन करेगा, वही मनुष्य होगा। मनुष्य को जो भी ज्ञान उपलब्ध है, उसका अधिकांश इन्द्रियों द्वारा नहीं, वरन् मन के द्वारा ही उपलब्ध होता है। सम्यकग्दृष्टि को जो ज्ञान होता है, वही ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को, शास्त्र की परम्परा अज्ञान कहती है।

रूप सामने विद्यमान है। वह काला, पीला या नीला है। उसे मिथ्यादृष्टि भी देखता है और सम्यग्दृष्टि भी देखता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि का देखना अज्ञान और सम्यग्दृष्टि का देखना सम्यग्ज्ञान है।

यह मतिज्ञान की बात हुई। श्रुतज्ञान या सूत्रज्ञान का भी यही हाल है। सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान, ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का वही श्रुतज्ञान, अज्ञान कहलाता है।

अवधिज्ञान भी सम्यग्दृष्टि के लिए अवधिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि के लिए विभंगज्ञान है।

कहने को तो कह दिया जाता है कि एक को अज्ञान और दूसरे को ज्ञान है; किन्तु इस विभेद-कल्पना की पृष्ठभूमि में क्या रहस्य है, यह भी समझना होगा। मगर यहाँ तो हम यही मान करके आगे चलते हैं।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदि अज्ञान है, तो उसका सत्य क्या सत्य है ? उसकी अहिंसा क्या अहिंसा है ? उसका चारित्र क्या चारित्र है ? मिथ्यादृष्टि के जीवन में, जो अच्छाइयाँ मालूम होती हैं,

व्यवहारदृष्टि में वे अच्छाइयाँ कहलाती हैं और कहलानी भी चाहिएँ; किन्तु जब सिद्धान्त की दृष्टि से देखते हैं और डुबकी लगाते हैं, तो पाते हैं कि वह सत्य, सत्य नहीं है, उसकी अहिंसा अहिंसा नहीं है; क्योंकि उसके मूल में अज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का आचार अज्ञान-मूलक और अज्ञान-प्रेरित है, अतएव वह सम्यक् आचार नहीं है।

जब मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विपरीत ज्ञान कहा जाता है, तब उसका मतलब क्या होता है ? क्या उसका ज्ञान उलट-पुलट होता है ? क्या मिथ्यादृष्टि सीधे खड़े हुए आदमी को उलटा देखता है ? उसे क्या सिर नीचे और पैर ऊपर नजर आते हैं ? नहीं, ऐसा कुछ नहीं होता। उसके ज्ञान का विपर्यास उसकी दृष्टि के विपर्यास होने में ही है।

मिथ्यादृष्टि को किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं बाँधा जा सकता। अमुक सम्प्रदायवादी सम्यग्दृष्टि है और अमुक सम्प्रदायवादी मिथ्यादृष्टि है, अथवा फलां व्यक्ति सम्यग्दृष्टि और फलां मिथ्यादृष्टि है, यह निर्णय करना हमारा अधिकार नहीं। हमारा अधिकार सिर्फ विचार करना है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन का किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या पंथ के साथ सम्बन्ध नहीं। जैन-कुल में जन्म लेने से ही कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता और संभव है, कोई जैन-कुल में जन्म न लेकर भी सम्यग्दृष्टि हो जाय। तब उसे महान प्रकाश प्राप्त होता है और उसका अज्ञान भी ज्ञान बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञान में रहता है, उसके चिन्तन के पीछे विवेक नहीं है, इसी कारण वह अज्ञानी कहलाता है। कदाचित् उसे जानकारी हासिल हो गई है और उसने किसी सत्य का पता भी लगा लिया है, तब भी विवेक के अभाव में

उसका सत्य, असत्य है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि पुरुष जब शास्त्रों का मनन करने को चलता है, तो संभव है उसका निर्णय तीव्र न हो, तेज न हो, और संभव है कि वह कभी गलत रूप भी ग्रहण कर ले; फिर भी शास्त्रकार कहते हैं कि वह सम्यग्दृष्टि ही है। उसके सम्यक्त्व को कहीं चोट नहीं लगी; क्योंकि उसकी दृष्टि सत्य की दृष्टि है। वह सत्य ज्ञान लेकर चलता है और विचार करता है, और विचार करते-करते किसी निर्णय पर पहुँच जाता है; किन्तु संभव है कि उसका निर्णय सही न हो; फिर भी उसने सच्चे श्रद्धान का रास्ता मालूम कर लिया है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वह मिथ्यादृष्टि हो गया और सम्यग्दृष्टि नहीं रहा है। जब कोई विशेषज्ञ उसे मिलता है तो विनम्रभाव से वह पूछता है और जब समझ लेता है कि उसने गलती की थी, तो वह अपने अहंकार और अपनी प्रतिष्ठा को आड़े नहीं आने देता। वह सत्य के पीछे इन सब को बलिदान कर देता है और उस सत्य को सहजभाव से स्वीकार कर लेता है। आगम में धर्म का निर्णय करने के सम्बन्ध में कहा है—

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं।

—उत्तराध्ययन २३।२५

धर्म का निर्णय प्रज्ञा—बुद्धि से होता है; विचार, विवेक और चिन्तन से होता है। यह विवेक जिसे प्राप्त हो गया है, उसके सामने शास्त्र सच्चा शास्त्र बनता है और उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के विवेक के अभाव में कोई कितना ही क्यों न पढ़ ले, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होगा।

मुझे एक विदेशी सज्जन मिले। उन्होंने भगवती और आचारांग आदि पढ़े थे। वे बातें करने लगे, तो अहिंसा के विषय

में बड़ी सूक्ष्म-सूक्ष्म बातें करने लगे। मैंने उनसे पूछा—"आप आगमों का चिन्तन किया है और समय लगाया है और रहस्य जानने का प्रयास किया है, सो किसलिए ? आपको विश्वास है यह सब क्या है ?"

वह बोले—"हमें करना क्या है ? हमने जो भारतीय दर्शन और जैनदर्शन का अध्ययन किया है, सो इसलिए कि विश्व-विद्यालय में कोई अच्छा-सा 'पद' मिल जाय।"

तो जहाँ भगवती और आचारांग के ज्ञान के पीछे यह दृष्टिकोण है, जो प्रयत्न किया गया है, उसके पीछे सत्य की उपलब्धि की दृष्टि नहीं है और केवल सांसारिक स्वार्थ की भावना है, वहाँ एक साधारण गृहस्थ के मुकाबिले में भी, जिसने इन शास्त्रों का नाम ही सुना है या जिसका अध्ययन लूला-लँगड़ा है, जिसने कभी बारीकी से शास्त्रों को नहीं पढ़ा है; किन्तु साधक है, ऐसा एक बड़े से बड़ा विद्वान् भी सम्यग्ज्ञानी नहीं कहला सकता। अभिप्राय यह है कि सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान के मूल में सत्य के लिए तत्परता और अतत्परता ही प्रधान है। सम्यग्ज्ञानी सत्य की राह पर और सत्य की प्राप्ति के लिए ही चलता है। सत्य की उपलब्धि ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। सत्य उसके लिए सर्वस्व है। सत्य के लिए वह सभी-कुछ समर्पित कर सकता है। इतनी तैयारी के बाद भी कभी कोई साधक प्रमाद के कारण सत्य से भटक सकता है, असत्य की राह पर चल सकता है; फिर भी वह असत्य का राहगीर नहीं कहलाएगा; क्योंकि वह अपनी समझ में सत्य की ही राह पर चल रहा है और जब भी उसे मालूम हो जायगा कि वह अपने मार्ग से भटक गया है, तत्काल अपना मार्ग बदल लेगा। पूर्वग्रह, अहंकार या प्रतिष्ठा-भंग

आदि का भय उसे क्षण-भर के लिए भी राह बदलने से नहीं रोक सकेगा। शास्त्र में कहा है:—

'समयं ति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होइ त्ति उवेहाए।'

—आचाराङ्गसूत्र

अर्थात् जिसकी दृष्टि सम्यक् है, जिसकी दृष्टि में विवेक और विचार विकसित हो चुका है, उसके लिए सम्यक् तो सम्यक् है ही; परन्तु असम्यक् भी सम्यक् ही बन सकता है।

एक मुनि गोचरी के लिए चला। विवेक और विचार के साथ गृहस्थ के घर पहुँचा और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आहार की शुद्धता-अशुद्धता की गवेषणा की। इस प्रकार यथासंभव पूर्ण सावधानी रखते हुए भी आखिर वह छद्मस्थ है, सर्वज्ञ नहीं है और इस कारण संभव है कि अशुद्ध आहार आ गया हो। ऐसा आहार करने वाले मुनि को आप शुद्धाहारी कहेंगे या अशुद्धाहारी कहेंगे? शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा मुनि शुद्ध आहार ही कर रहा है।

दूसरी ओर एक ऐसा साधु है, जिसमें विवेक और विचार नहीं है। वह आहार लेने चला और उसने किसी प्रकार की पूछ-ताछ नहीं की, कोई विचार नहीं किया। पूछता तो दूसरी बात होती, पर उसने ऐसा नहीं किया और जैसा-तैसा आहार ले लिया। ऐसा करने पर भी संभव है, उसे शुद्ध आहार मिल जाय और वह अपने स्थान में आकर उसका उपयोग कर ले। शास्त्र का आदेश है कि वह आहार कदाचित् निर्दोष होते हुए भी अशुद्ध है।

हम-सब चिन्तन करने बैठे हैं। शास्त्र तो है ही, किन्तु हमारा चिन्तन भी शास्त्र है; क्योंकि उसका आधार शास्त्र है। तो पहला मुनि जो आहार लाया है, शास्त्र भी उसे अशुद्ध नहीं कहता और दूसरे को यद्यपि निर्दोष आहार मिला है, फिर भी शास्त्र उसे शुद्ध नहीं कहता। इसका कारण क्या है? यही कि सत्य के लिए जागृति, तत्परता और चिन्तन होना चाहिए। जहाँ यह सब विद्यमान है, विवेक, विचार और चिन्तन चल रहा है और असावधानी नहीं है, वहाँ अशुद्ध भी शुद्ध है। ऐसा न होने पर यदि शुद्ध आहार लाया गया है, तब भी वह अशुद्ध ही है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का निर्णय करने के लिए यही मुख्य दृष्टि रखनी चाहिए। यही बात आराधक और विराधक के विषय में भी समझनी चाहिए।

एक आचार्य हैं, जिन्होंने उत्तराध्ययनसूत्र पर कुछ लिखा है। उन्होंने श्रावक की भूमिका को भी बाल-तप के रूप में प्रकाशित कर दिया है। उसको पढ़ा भी जाता है और पढ़ने के बाद कितनों को ही भ्रान्तियाँ जागती हैं। वह महान् आचार्य हैं। उन्होंने जो लिख दिया है, उसके लिए क्या हम यह कहें कि उत्सूत्र-प्ररूपणा कर दी है? अथवा उनमें मिथ्यादृष्टिपन आ गया? सच तो यह है कि उनकी बुद्धि ने जहाँ तक काम किया, वहाँ तक चले। अगर वे सत्य को समक्ष रखकर ही चले, तो कैसे कहा जा सकता है कि वे मिथ्यादृष्टि हो गये? हाँ, ऐसी स्थिति में आवश्यक यही है कि जब भी कोई सच्ची सूचना या निर्णय दे, तो उसे स्वीकार करने में हिचक न हो। जो सहजभाव से अपनी भूल को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, जो भूल को भूल समझ कर भी सोचता है—लिख तो दिया, अब इसे कैसे बदलूँ? बदलूँगा तो मेरी ख्याति में धब्बा लग जायगा; लोग मेरा उपहास करेंगे, और इस

प्रकार सत्य के सामने चमकने पर भी जो उसका तिरस्कार करता है, समझना चाहिए कि वहाँ दाल में काला है। उसकी स्थिति ठीक नहीं है।

पहले जो आगमोद्धार हुआ है, उसमें कई भूलें आई हैं। तो क्या हम आगमोद्धार करने वालों को उत्सूत्र-प्ररूपक अथवा मिथ्या-दृष्टि कहें ? नहीं। ऐसा नहीं कहा जा सकता। सत्य ही जिसका लक्ष्य है, उससे अगर गलत प्ररूपणा हो जाती है, तब भी वह सम्यग्दृष्टि है।

इसके विपरीत, अगर किसी ने बिलकुल सही लिखा है और छोटी-सी भी भूल नहीं की है; किन्तु उसकी वृत्ति पवित्र नहीं है, उसके पीछे अर्थोपार्जन की ही भावना है, तो हम कहेंगे कि उसने सत्य नहीं लिखा है; क्योंकि उसके पीछे सत्य की दृष्टि नहीं है।

अभिप्राय यह है कि कलम से लिखना, मुँह से बोलना और बातों को उसी रूप में कह देना ही सत्य नहीं है; किन्तु उसके पीछे सत्य के प्रति अनुराग, भावना, प्रेरणा और चिन्तन भी चाहिए। जब तक यह न होगा, सत्य का निर्णय नहीं होगा और असत्य के दलदल में से निकलना संभव न होगा। आचार्य अकलंक ने कहा है—

दर्शनस्य पूज्यत्वम्

सम्यग्दर्शन महान् है और यह एक ऐसा पारस है कि जिस लोहे को छूता है, सोना बना देता है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तो अज्ञान भी ज्ञान बन जाता है। दृष्टि बदलते ही अज्ञान, ज्ञान का रूप धारण कर लेता है। वैसे तो मिथ्यादृष्टि में भी ज्ञान ही था, अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव नहीं था; किन्तु मिथ्यादृष्टि की मिथ्या दृष्टि ने उसके ज्ञान को विपरीत बना

रक्खा था, अज्ञान बना दिया था। और जैसे ही दृष्टि बदली कि अज्ञान, ज्ञान के रूप में परिणत हो गया।

इस प्रकार हम अपने प्रेमी साथियों से, जो सत्य और असत्य के लिये आग्रह लेकर चलते हैं और झटपट किसी को मिथ्यादृष्टि कह देते हैं, कहेंगे कि यह उचित नहीं है। ऐसा करने वाले एक तरह से अपने को सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं। हमें सम्यक् प्रकार के विवेक और विचार के प्रकाश में ही असत्य और सत्य का निर्णय करना चाहिए।

सत्य, सत्य के लिए !

सत्य हमारे जीवन में उतना ही आवश्यक है, जितना कि अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आत्मा के जो अनन्त-अनन्त गुण हैं और जैसे वे हमारे जीवन को परम पवित्र बनाते हैं, उनमें से एक को भी छोड़ देने से जीवन की पवित्रता पूर्ण नहीं होती; उसी प्रकार सत्य भी हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है, हमारी साधना का मुख्य भाग है। उसको छोड़कर हम साधना के जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते! इसी कारण आपके सामने सत्य की विवेचना की जा रही है। बतलाया जा चुका है कि जहाँ ज्ञान, विवेक और विचार नहीं, वहाँ सत्य की भूमिका भी नहीं मिल सकती।

जो व्यक्ति स्वयं अंधकार में है और जिसे पता नहीं कि मैंने सत्य क्यों बोला ? सत्य बोला तो इससे जीवन का क्या लाभ है ? असत्य बोलता हूँ, तो क्या हानि होती है ? ऐसा व्यक्ति यदि किसी के दबाव से सत्य भी बोल रहा है, सोचता है कि असत्य बोलूँगा, तो पिता या पुत्र नाराज हो जाएँगे, राजा दण्ड देगा अथवा समाज में बदनाम हो जाऊँगा और ऐसा सोचकर सत्य बोलता है, तो भगवान् महावीर का कथन है कि उसका सत्य चारित्र का सत्य नहीं है। वह सत्य विवेक या ज्ञान का सत्य नहीं बना है।

सत्य के पीछे भय, स्वार्थ, लोभ और लालच का क्या काम है। सत्य की उपासना के पुरस्कार-स्वरूप अगर संसार-भर की

आपदाएँ सिर पर आ पड़ती हैं, तब भी सत्य का ही आश्रय लो, सत्य को ही अपनी उपासना का केन्द्र-बिन्दु बनाए रहो और सत्य को ही आमंत्रण दो। प्रत्येक परस्थिति में सत्य ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिए। और संसार-भर का वैभव मिले, तब भी तुम असत्य को निमन्त्रण मत दो, असत्य की कामना भी मत करो। भीषण से भीषण संकट के समय भी जो सत्य के पथ से विचलित नहीं होता और लेशमात्र भी असत्य को आश्रय नहीं देता, निश्चित समझो कि वह महान् भाग्यशाली है; उसकी अन्तस्तल की दिव्य शक्तियाँ उदित और जाग्रत हो रही हैं और वह समस्त संकटों को हँसते-हँसते पार कर लेगा। सत्य का असीम और अतर्क्य बल उसका रक्षण करेगा, उसे महान् बना देगा। यह जीवन की महान् कला है। जीवन की कला में सत्य, सत्य के लिये बोला जाता है और अहिंसा का अहिंसा के लिए ही आचरण किया जाता है।

आपको यह बात बड़ी अटपटी मालूम होती होगी कि आखिर सत्य, सत्य के ही लिए कैसे? अहिंसा का आचरण अहिंसा के लिए ही क्यों? इनका कुछ उद्देश्य तो होना ही चाहिए! मगर मैं समझता हूँ कि सत्य से बढ़कर और क्या उद्देश्य हो सकता है? और अहिंसा से बढ़कर अहिंसा का और क्या उद्देश्य संभव हो सकता है? जीवन का उद्देश्य पवित्रता है और पवित्रता क्या है? सत्य अपने-आप में पवित्र है और जब वह पवित्र है, तो उसका अर्थ होता है पवित्रता, पवित्रता के लिए, सत्य, सत्य के लिए और अहिंसा, अहिंसा के लिए।

आत्मा के जितने भी निज गुण हैं, उन सबका एक गुण है। प्रत्येक गुण के द्वारा आत्मा में बैठे हुए एक-एक विकार का अन्त होता है, अर्थात् असत्य की जगह अपने-आप में सत्य का आजाना

और क्रोध से क्षमा की ओर आना। यह बाहर से हटकर अपनी ओर आना है। अहंकार से हटकर नम्र बनना भी निज गुण में आ जाना है और लोभ-लालच से बचकर सन्तोष प्राप्त करना भी निज गुण में आ जाना है।

भूला हुआ यात्री रात-भर ठोकरें खाता है; उसे गली का मोड़ नहीं मिलता है और बाहर भटकता है। परंतु जब कभी किसी के द्वारा घर का रास्ता मिलता है और वह घर में आ जाता है। वह घर से बाहर जो चल रहा था। सो भटकता था और ज्यों ही घर की ओर मुड़ा कि भटकना नहीं रहा, वह घर की ओर आना कहलाया। इसी प्रकार जब हम क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, वासना और विकारों में रहते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपने घर से बाहर भटक रही है अर्थात् अपने निज गुणस्वरूप से बाहर भटक रही है और जब क्रोध-रूप दुर्गुण को छोड़ देती है, तो घर में लौट आती है अर्थात् अपने स्वरूप में आ जाती है।

अहिंसा का आदर्श क्या है? आप कहते हैं—अहिंसा मोक्ष के लिए है; परन्तु मोक्ष क्या है? मोक्ष का अर्थ है—समस्त विकारों के बंधन का टूट जाना और ज्यों-ज्यों बन्धन टूटते जाते हैं, मोक्ष प्राप्त होता जाता है।

आप सोचते होंगे कि जब सम्पूर्ण रूप से कर्मों के बन्धन टूट जाते हैं तब मोक्ष कहलाता है। यह ठीक है और मोटे तौर पर ऐसा ही माना जाता है; किन्तु चौथे गुणस्थान में जिस आत्मा ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, उसके अनादि काल से चले आते हुए मिथ्यादर्शन के बन्धन अनन्त-अनन्त काल के लिए—सदा-सर्वदा के लिए टूट जाते हैं। इस प्रकार उस आत्मा को मिथ्यात्व से मुक्ति मिल जाती है। क्षायिक भाव ही मोक्ष कहलाते हैं और ज्यों-ज्यों वे प्राप्त होते जाते हैं, मोक्ष प्राप्त होता जाता है। क्षायिक

भावों की प्राप्ति क्रम से होती है। चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन से क्षायिक भाव आता है और आगे चलकर तेरहवें गुणस्थान में चार कर्मों का नाश हो जाने पर क्षायिक भाव आ जाते है। शेष चार—अघातिक कर्म बने रहते है और फिर चौदहवें गुणस्थान में उनका भी क्षय कर दिया जाता है। तब उन कर्मों के क्षय से भी क्षायिक भाव आते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा में जो विकार थे, उन्हें नष्ट कर दिया गया और उनके पुनः पैदा होने की गुंजाइश नहीं रही। इस प्रकार जीव ज्यों-ज्यों क्षायिक भाव प्राप्त करता जाता है, उसके विकार-बन्धन नष्ट होते चले जाते हैं और ज्यों-ज्यों विकार-बन्धन नष्ट होते जाते हैं, त्यों-त्यों वह मुक्ति प्राप्त करता जाता है। क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते जब आत्मा आध्यात्मिक विकास की चरम भूमिका पर—चौदहवें गुणस्थान में पहुँचता है, तो उसके समस्त बन्धनों और विकारों का अन्त हो जाता है और तब सम्पूर्ण मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का पूर्ण रूप से निर्विकार होना—अपने शुद्ध स्वभाव में आ जाना चरम मोक्ष है।

कहा जाता है—आत्मा मोक्ष में जाती है, अमुक आत्मा अमुक समय में मोक्ष में पहुँच गई। परन्तु यह भाषा, भाषा ही है। मैं पूछता हूँ कि आत्मा जब सिद्धशिला पर या लोकाग्र पर पहुँची, तब उसे मोक्ष मिला या जब मोक्ष प्राप्त हो गया, तब वहाँ पहुँची ?

आत्मा जब समस्त बंधनों से छुटकारा पा चुकी, तो उसने इस शरीर को त्याग कर अपनी यात्रा की और जब तक वह उस स्थान तक नहीं पहुँच जाती, तब तक आप उसका मोक्ष नहीं मानते। इस प्रकार एक खास स्थान का नाम मोक्ष समझ लिया गया है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मोक्ष कोई स्थान नहीं, वह तो

आत्मा की निर्विकार, निरंजन, निष्कलंक, और निष्कर्म अवस्था-मात्र है। कहा भी है—

'सकल करम ते रहित अवस्था,
सो सिव थिर सुखकारी।'

मोक्ष यदि कहीं होता भी है, तो यहाँ ही होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ तो पावापुरी में ही—सिद्धशिला में नहीं। जब निर्वाण हुआ तो आत्मा अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण ऊपर गई। ऊपर जाने पर भी सिद्धशिला पर रहना पड़ता है, रह जाती है या रहना हो गया है। यदि रहती है, ऐसा माना जाय, तो मुक्तात्माओं में औदयिक भाव स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि किसी भी स्थान पर रहना कर्मों के उदय का फल है। यह आत्मा नरक में जाती है और रहती है, तो वह किसी कर्म के उदय का ही फल है; स्वर्ग में रहना भी कर्मोदय का ही फल है। इसी प्रकार आत्मा मोक्ष में जाती है और अमुक जगह पर रहती है, यह दृष्टि रही तो फिर मुक्त जीवों में भी कर्म का उदय मानना पड़ेगा। भगवान् महावीर का अमुक कर्म का उदय था, अतः उसने उन्हें अमुक जगह पर पहुँचा दिया और भ० पार्श्वनाथ के अमुक कर्म ने अमुक स्थान पर पहुँचा दिया। ऐसा मानना उचित नहीं है और न सिद्धान्त इस मान्यता का समर्थन ही करता है।

अभिप्राय यह है कि किसी भी भूमि में जाकर रहना और जहाँ रहना है, वहाँ रहने के इरादे से रहना और आगे न बढ़ना, यह सब बातें कर्मों के उदय का फल है, कर्मों के क्षय का-क्षायिक भाव का फल नहीं है। जैन शास्त्रकार कहते हैं कि मोक्ष तो जहाँ से मनुष्य निर्वाण प्राप्त करता है, वहीं हो जाता है। निर्वाण प्राप्त होने पर आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है और जहाँ तक

ऊर्ध्वगमन का बाह्य साधन मिलता गया, ऊर्ध्वगमन होता रहा; जब साधन न रहा, तो ऊर्ध्वगमन भी रुक गया। और इस प्रकार आत्मा वहीं रह गई, किन्तु रहने के इरादे से रही नहीं।

आप कहेंगे कि यह तो शब्दों की छीलछाल है; किन्तु उस सत्य को आपके मन में डालने के लिए ही हम इन शब्दों में अन्तर डालते हैं। इन्हें ठीक तरह समझने से सही आशय समझ में आ जायगा।

जैन शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है। जब दिल्ली में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी के साथ वार्तालाप हो रहा था, तो दार्शनिक दृष्टिकोण से एक प्रश्न चल पड़ा था—जैनधर्म आत्मा के संबंध में क्या विचार करता है? संसार-भर की भव्य आत्माओं के सम्बन्ध में उसका क्या विश्वास है? क्या उसका विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा उन्नति और विकास कर रही है और उसका काम नीचे जाने का नहीं है? उसकी प्रत्येक चेष्टा अपनी पवित्रता की ओर ही हो रही है? अथवा उसका यह विश्वास है कि आत्माएँ पवित्रता की ओर न चलकर अपवित्रता की ओर जा रही हैं?

इस विषय में दो मन्तव्य हैं। दार्शनिक क्षेत्र में जाते हैं, तो दोनों तरह के विचार उपलब्ध होते हैं। एक ओर यह माना जाता है कि प्रत्येक आत्मा, जो भव्यात्मा है, प्रगति की ओर है, विकास की ओर है। दूसरी तरफ यह भी समझा जाता है कि प्रत्येक आत्मा अपवित्रता की ओर जा रही है और दुर्गुणों की ओर जा रही है। दुर्गुणों की ओर जाना उसका सहज भाव बन गया है और सद्‌गुणों की ओर जाना कठिन मार्ग है। किन्तु जैनधर्म का कहना है कि प्रत्येक आत्मा का सद्‌गुणों की ओर जाना सहज भाव है और आत्मा का दुर्गुणों की तरफ जाना कठिन मार्ग है।

उर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः"

—तत्त्वार्थ-भाष्य

इसका अर्थ यह है। कि कोई भी आत्मा कहीं भी गिर कर चल रही है, मान लीजिए कि नरक में चली गई है, तो ज्यों ही वह नरक में गई कि उसी क्षण उसका पवित्र होना शुरू हो जाता है। नरक में गई हुई आत्माओं में से, जिसने अभी-अभी नरक में जन्म लिया है, वह लेश्या के लिहाज से अधिक अपवित्र है और कर्मों के दृष्टिकोण से अधिक भारी है। उसकी लेश्या और उसके अध्यवसाय अधिक तीव्र हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों वह नारकी आत्मा, नरक में अपना जीवन गुजारता जाता है और गुजारते-गुजारते लम्बा समय बिता देता है, वह कर्मों से हल्का-हल्का होता जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण निरन्तर नारकी जीव कर्मों के भार से हल्का होता जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि नरक के योग्य वन्धनों में जकड़ कर आत्मा यद्यपि नरक में गई है और नीचे दब गई; फिर भी वह ऊपर आने के लिये प्रगति करने लगती है। आत्मा ज्यों ही नरक में पहुँची और एक समय व्यतीत हुआ कि उसमें पवित्रता का प्रादुर्भाव होने लगा, एक समय भी वह ज्यों की त्यों नहीं रहती। दूसरे और तीसरे क्षण में वह कर्म-भोग भोगती हुई अपने विकास की ओर चल पड़ती है। यही कारण है कि आत्मा एक बार नरक में पहुँच कर भी ऊपर आ जाती है। अन्यथा एक वार नरक में पड़ जाने पर फिर कभी निकलना संभव ही न होता; नारकी जीव अनन्त-अनन्त काल तक नारकीय जीवन ही गुजारता रहता। मगर शास्त्र वतलाता है कि एक वार नारकीय जीवन की स्थिति-मर्यादा पूर्ण होने पर जीव वहाँ से वाहर आ ही जाता है; वह नरक से निकल कर उसी क्षण दोबारा नरक में जन्म नहीं लेता।

अभिप्राय यह है कि आत्मा विकास की ओर आना चाहती

है। वह नीचे चली गई, तो कर्मों को भोगने के बाद फिर ऊपर आना चाहती है, और आ भी जाती है। आत्मा की परिणति कुछ ऐसी है कि जहाँ कहीं भी वह जाता है, समझती है कि वह विकास की ओर जा रही है।

विचार कीजिए राजा श्रेणिक थे और उन्हें तीर्थंकर बनना था। भविष्य में उन्हें तीर्थंकर बनना था, तो वे नरक में क्यों गये ? कारण यही कि वे जिन कर्मों के भार से अपवित्र थे, जो कर्म उन्हें तीर्थंकर बनने से रोकते थे, उनके विद्यमान रहते वे तीर्थंकर नहीं बन सकते थे। ऐसी स्थिति में नरक जाने का प्रयोजन एक प्रकार से यही हुआ कि आत्मा पर कर्मों का जो भार है, कर्मों की अपवित्रता का जो बोझा है, उसे हटाकर—कर्मों को भोगकर, आत्मा को शुद्ध और हलका बनाया जाय। इसी दृष्टि से आत्मा नरक में पहुँची है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि नरक में जाने से आत्मा का यह प्रयोजन आप ही आप सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा चाहे नरक में जाय, चाहे अन्यत्र कहीं भी जाय, वह शुद्धि की ओर जाता है। भगवान् महावीर का दर्शन है कि—"हे साधक, तेरे ऊपर जो आपत्तियाँ आ रही हैं, तुझे संकट चारों ओर से घेर कर खड़े हैं, तब भी तू उदास मत हो, निराश मत हो। जितनी आपत्तियाँ और मुसीबतें तेरे सामने हैं, सब तेरी शुद्धि के लिए हैं; उन्हें वीरतापूर्वक, विवेक के साथ सहन करके तू शुद्ध हो रहा है, निखर रहा है; क्योंकि तेरा पाप निकल रहा है, धुल रहा है। वस्त्र मैला है, तो उसकी घिसाई हो रही है और डंडे पड़ते हैं तो उसको रोना नहीं है। जो भी मुक्का-मुक्की हो रही है और निचोड़ा जा रहा है, वह सब उसकी शुद्धि के लिए ही है, वस्त्र को फाड़ने के लिए नहीं है। मैल के एक-एक अंश को हटाने के लिए उसे पछाड़ा जा रहा है। "इसी प्रकार साधना के मार्ग में जो कुछ भी कष्ट और संकट आते हैं, जो आपत्तियाँ

और मुसीबतें आकर पड़ती हैं, वे सब सहज भाव में, आत्म-शुद्धि की प्रेरणा के लिए हैं, आत्मा के मैल को धोने के लिए हैं।"

साधु हो या गृहस्थ, प्रत्येक जैन को एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा लेनी है। वह यह कि जो भी तकलीफें और कष्ट हैं, सब-के-सब मेरी आत्मा की पवित्रता के लिए हैं। इन कष्टों की कृपा से मेरी अपवित्रता धुल रही है और मैं निरन्तर पवित्र होता जा रहा हूँ।

हे साधक, जब तुझ पर आपत्ति का आक्रमण हो, तब तू समभाव धारण करके रह। रो मत, विलाप मत कर। रोने और विलाप करने से आपत्ति का अन्त नहीं होगा, वह और अधिक भीषण बन जाएगी और भविष्य की आपत्तियों का अंकुर रोप जायगी। तेरे नेत्रों का पानी उस अंकुर को पोषण देगा हरा-भरा बना देगा। इसलिए तू आपत्ति के समय शोक और विलाप त्याग कर समभाव धारण कर ले। समझ ले कि यह दुःख मेरे दुःख को कम कर रहा है। मैं दुःख से छुटकारा पा रहा हूँ।

सुख के विषय में भी यही बात है। जिसे सुख की सामग्री मिली है और जो सुख भोग रहा है, उसे भी समभाव धारण करके ही भोगना चाहिए। भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ, यह तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती थे। यदि वे चक्रवर्ती न होकर सीधे तीर्थंकर बनना चाहते, तो क्या बन सकते थे? नहीं। आखिर उन्होंने पहले पुण्यकर्मों का बन्ध किया था और उन कर्मों से उनकी आत्मा भारी हो रही थी। उसे हल्का बनाये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती थी।

तो सम्यग्दृष्टि हर हालत में समभाव का ही आश्रय लेता है। वह दुःख भोगता है, तो भी समभाव से और सुख भोगता है, तो भी समभाव से ही। दुःख की तरह सुख को भी वह भार समझता है और उसे भी समभाव से भोगकर, उसके भार को उतार फेंकना

चाहता है। सम्यग्दृष्टि भली भाँति समझता है कि जैसे पापकर्म आत्मा की शुद्धि के मार्ग में बाधक है, उसी प्रकार पुण्यकर्म भी अन्ततः बाधक ही है। यह बात दूसरी है कि पुण्यकर्म से आत्म-शुद्धि की प्रेरणा प्राप्त होती है; परन्तु आखिर तो कर्ममात्र से छुटकारा पाये विना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती।

उक्त तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती हुए तो क्यों हुए? वे अपने भोगावली कर्मों को भोगने के लिए ही चक्रवर्ती हुए। उन्होंने चक्रवर्ती के सर्वोत्कृष्ट मानवीय सुखों को इसी दृष्टि से भोगा कि हम कर्मभार को हल्का कर रहे हैं। आत्मा की पवित्रता का यही मार्ग है कि किसी भी अवस्था में हम विषयभाव के शिकार न बनें। सुख आया है, तो भले आए और दुःख आया है, तो भले आये।

आम तौर पर दुखी जनों को उपदेश दिया जाता है कि समभाव धारण करो, धीरज रक्खो और दुःख का पहाड़ आ पड़ने पर विकल न बनो। किन्तु जो धनी हैं और संसार-भर का एश्वर्य लेकर बैठे हैं, और गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उन्हें भी यही उपदेश दिया जाना चाहिए। जैनधर्म का संदेश आज पिछड़ गया है; किन्तु उसने कहा था, वह चक्रवर्तियों, सम्राटों और धन-कुबेरों से कहने चला था कि धन मिला है, असीम ऐश्वर्य मिला है, सुख मिला है, तो उसे समभाव से भोगो। जो कर्म उपार्जित किये जा चुके हैं, उन्हें भोगे विना छुटकारा नहीं है; अतएव उन्हें भोगते हुए भी समभाव से न चूको। इस प्रकार जैनधर्म दुःख पाने वालों से कहता है कि रोओ मत, और सुख में मस्त बने हुओं से कहता है—हँसो मत।

इस प्रकार जीवन चाहे फूलों के मार्ग पर चल रहा हो अथवा काँटों के मार्ग पर चल रहा हो, सुखमय हो अथवा दुःखों से

व्याप्त हो, जैनधर्म एक ही संदेश लेकर चला है। जो कुछ हो रहा है, होने दो; हर्ष और विषाद की परछाईं आत्मा पर मत पड़ने दो। जो भी सुख या दुःख हैं, हमारी आत्मा के कल्याण के लिए हैं; इन्हें भोग कर ही आत्मा पवित्र बन सकेगी; प्रत्येक दशा में समभाव ही आत्मा को विमल और विशुद्ध बना सकेगा। यदि समभाव नहीं आया है, तो सुख और दुःख, दोनों ही आत्मा को बन्धन में डालते हैं। दोनों से बन्धन और भी मजबूत होते हैं।

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा चाहे नरक में जाय या स्वर्ग में जाय, वहाँ जाते ही वह कर्मों को क्षय करना आरम्भ कर देती है। ज्यों-ज्यों कर्मों को भोगती जाती है, कर्मों का क्षय होता जाता है। यह भोगना और क्षय होना निरन्तर जारी रहता है। जैन-धर्म ने कहा है कि प्रतिक्षण कर्मों का क्षय होता जा रहा है और यदि साधक सावधान नहीं है, तो निरन्तर बँधते भी जा रहे हैं। हौज़ एक तरफ से खाली हो रहा है और दूसरी तरफ से भर रहा है। हमारे जीवन की ठीक यही गति है। कर्म एक तरफ से खाली हो रहे हैं और दूसरी तरफ से भर रहे हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है। ऐसी स्थिति में पवित्रता का मार्ग किस प्रकार मिल सकता है? जब आना कम और जाना अधिक होता है, तब आत्मा की पवित्रता बढ़ती है। और जब जाना ज्यादा होता है, तो क्षय होने के साथ-साथ आगे आने की (आस्रव की) जो वासनाएँ हैं, वे कम होती जाएँगी और पवित्रता और ज्यादा हो जायगी। कोई आदमी ऋणी है। वह आगे कम ऋण लेता है और ज्यादा चुकाता है, तो एक दिन उसका सारा ऋण उतर जायगा।

तो ऐसी स्थिति कब पैदा होती है? शास्त्रकार कहते हैं—जब-जब तेरे अन्दर समभाव जागृत रहेगा, राग-द्वेष की मलिन

भूमिका से ऊपर उठेगा और इस परम सत्य को प्राप्त कर लेगा कि तू संसार के भोगों में बँधने के लिये नहीं है, उनमें तुझे आसक्ति नहीं होनी है, तब तेरा ऋण उतरना शुरू हो जायगा।

मक्खी को तो आप सदा देखते ही हैं। वह शक्कर पर बैठती है। जब तक बैठती है, तब तक बैठती है और शक्कर का उपयोग करती है। और जरा-सा हवा का झोंका आया कि उड़ कर चली भी जाती है। इसी रूप में जो जीवन का उपयोग कर रहे हैं और संसार के सुख-दुःख भोग रहे हैं—किन्तु विकारों में बँधते नहीं हैं, आसक्ति के कीचड़ में फँसते नहीं हैं, वही साधक आत्मा का ऋण चुकाने में, आत्मा का बोझा उतार फैंकने में समर्थ होते हैं।

अन्तःकरण में ज्यों-ज्यों उदासीनता की वृत्ति विकसित होती चली जायगी, कर्मों के आने का मार्ग क्षीण होता जायगा और जैसे-जैसे कर्मों के आने का मार्ग क्षीण होता जायगा, मोक्ष होता जायगा।

सम्यग्दृष्टि की भूमिका में निरन्तर जागृति बनी रहती है। श्रावक के तो असंख्य-असंख्य कर्मों की निर्जरा होती रहती है। सम्यक्त्व-रत्न का प्रकाश जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, ऊँची भावनाओं का तेज प्रखर होता चला जाता है। चढ़ी हुई धूल उड़ कर साफ होती जाती है। साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, उसकी गति में तीव्रता आती रहती है। इस प्रकार कर्मों के आगमन और बंधन की मात्रा कम होती चलती है और जाने की अर्थात् तोड़ने की मात्रा निरन्तर बढ़ती चली जाती है। एक समय ऐसा आ जाता है कि पहले के संचित सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं और नवीन बन्धन का सर्वथा अभाव हो जाता है। वही स्थिति मोक्ष या निर्वाण की स्थिति कहलाती है।

आचार्य शंकर कहते हैं—

प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाऽप्युत्तरैः श्लिष्यताम् ।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥

पुराने कर्मों को, पूर्वसंचित वासनाओं को, पुरातन बन्धनों को अपने ज्ञान, ध्यान, विचार और साधना के बल से नष्ट करो। उनके नष्ट हो जाने पर जब तुम अपनी गुफा में गर्जना करोगे, दहाड़ोगे तो उस ओर आने वाले विकार-रूपी श्वापद ठिठक जाएँगे। वे तुम्हारी दहाड़ के सामने नहीं टिक सकेंगे। तब आगे बँधने वाले कर्मों की प्रक्रिया का भी अन्त आ जायगा।

कुछ कर्म प्रारब्ध होते हैं। जिन्हें वर्तमान में भोगा जा रहा है, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। वे थोड़े होते हैं और तोड़े नहीं जा सकते। उन्हें भोगना पड़ता है; परन्तु उनको भोगना ही उनको तोड़ना है।

वृक्ष पर फल लगा है। उसे कच्चा भी तोड़ा जा सकता है और यदि कच्चा न तोड़ा गया, तो पक कर आप-ही-आप टूट जाता है। टूटना तो उसके भाग्य में लिखा ही है। इसी प्रकार कर्म भी दोनों प्रकार से तोड़े जाते हैं। ज्ञान, ध्यान और तपस्या के बल से भी तोड़े जाते हैं और भोगने से भी तोड़े जाते हैं।

इस प्रकार पहले के कर्मों को ज्ञान-ध्यान से तोड़ दो, आगे के कर्मों में फँसो मत और निकाचित कर्मों को भोग लो, बस परब्रह्म का रूप प्राप्त करने का यही एक मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

इस दृष्टिकोण से जैन-धर्म के आध्यात्मिक जीवन पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि वहाँ प्रत्येक आत्मा की पवित्रता में विश्वास है। जैन-धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक

भव्य आत्मा पवित्रता को प्राप्त करने में समर्थ है, यदि वह पवित्रता के पथ पर चले।

जब यह स्थिति हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है, तो संसार की जिन आत्माओं के लिए हमारे मन में घृणा और द्वेष का भाव भरा हुआ है, वह मिट जाता है। हम यह समझ जाते हैं कि जिसके अन्दर जो बुराई है, वह यदि निकाल दी जाय, तो फिर वह चीज़ काम आने के लिए ही है, नष्ट करने के लिए नहीं है। ऐसी समझ आ जाने पर हम सब के प्रति समभाव रखकर चल सकेंगे।

एक बौद्ध भिक्षु चले जा रहे थे। उनसे किसी ने पूछा—"आप जा तो रहे हैं, पर आपके खाने-पीने का आगे क्या प्रबन्ध है? कुछ रुपये, पैसे, सिक्के पास हैं क्या?"

भिक्षु सहज भाव से बोले—"रुपये-पैसे तो पास में हैं नहीं और रखकर करना भी क्या है? सिक्के तो संसार में बिखरे पड़े हैं। जहाँ कहीं पहुँचेंगे, वहीं बिखरे मिलेंगे।"

वह बोला—"कैसे? आपका निर्वाह कैसे होगा?"

इस प्रश्न के उत्तर में भिक्षु ने जो कहा, बहुत ही सुन्दर था। भिक्षु बोले—"मुझे मनुष्य की पवित्रता में, मनुष्य की उदारता में विश्वास है, और इसी विश्वास के बल पर मैं दुनिया-भर में घूमूँगा और जहाँ भी जाऊँगा, मनुष्य के सिक्के बिखरे मिलेंगे।"

वह बोला—"सचमुच आपका यह विश्वास है?"

भिक्षु ने कहा—"हाँ, निस्सन्देह मुझे विश्वास है कि मनुष्य अपने विचारों में पवित्र होता है और उदार होता है और जहाँ भी मैं पहुँचूँगा, मुझे मनुष्य की उदारता का वरदान मिलेगा।"

और जब हम भी आपके ब्यावर से, चौमासा उठने पर चलेंगे, तो क्या आगे के लिए भोजन-पानी बाँधकर चलेंगे? अथवा

और कोई व्यवस्था करके चलेंगे ? श्रावकों की टोली साथ लेकर चलेंगे कि वे बना-बना कर हमें बहराते जाएँ ? नहीं, हमें भी जनता की उदारता पर विश्वास है कि कोई न कोई माई का लाल मिलेगा और वह अपने हाथ से दान देगा। कोई न कोई बहिन मिलगी, जो अपने भोजन का कुछ भाग बड़े प्रेम से जरूर देगी।

तो मानव-जगत् के प्रति अविचल विश्वास लेकर चलो कि हर मनुष्य के पवित्र विचार हैं और उदार भाव हैं। मैं जहाँ कहीं जाऊँगा, उसकी जागृति करूँगा और अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सकूँगा। नहीं करूँगा तो भी हजार बार वे मेरी आवश्यकताओं को पूरा कर देंगे। संसार में जितने प्राणी हैं, सब उर्ध्वगमनशील हैं। ज्ञाता-सूत्र में आत्मा का स्वभाव बतलाने के लिए एक उदाहरण आता है—

तूंबे पर मिट्टी का लेप लगाकर तालाब में छोड़ दिया जाय, तो वह कितनी ही गहराई में क्यों न चला जाय, जब तक बन्धन में है, तभी तक दबा रहेगा। बन्धन हटते ही, संभव है आपको हाथ हटाने में देर लग जाय, पर उसके ऊपर आने में देर नहीं लगगी।

सन्त कबीर ने भी कुछ हेर-फेर के साथ इसी रूपक को यों कहा है—

चोर चुराई तूँबड़ी, जल में दाबी जाय।
वह दाबे वह ऊभरे, पाप छिपेगा नाय॥

किसी चोर ने तूँबी चुरा ली। वह उसे छिपाने के लिए भागा। जब कोई ठीक जगह नहीं मिली तो सोचा। तलैया में जाकर दबा दूँ। वह तलैया के किनारे जाकर तूंबी को दाब-दाब कर छोड़ना चाहता है, परन्तु वह हाथ के साथ-ही-साथ ऊपर उठ आती है।

इसका अभिप्राय यह है कि कर्म तो हमको नीचे दबाकर ले जाते हैं, किन्तु हम विचारों की छलांग मार कर ऊपर आ जाते हैं। यह उदाहरण आज २५०० वर्ष का पुराना हो चुका है, किन्तु जब राष्ट्रपतिजी ने सुना, तो वे हर्ष से गद्‌गद्‌ हो गये। यह एक सुन्दर दार्शनिक दृष्टांत है।

हाँ, तो तुंबी पर मिट्टी का लेप लगा दिया और उसे पानी में छोड़ दिया, तो वह नीचे बैठ गई। किन्तु ज्योंही उसके बन्धन गले कि वह क्षण-भर भी नीचे नहीं रहने वाली है। उसका स्वभाव ऊँचे उठने का है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी ऊपर उठने का, ऊर्ध्वगमन करने का है। जब तक कर्मों के बन्धन रहेंगे तभी तक वह नीचे दबी रहेगी और ज्योंही बन्धनों से मुक्त होगी, झट ऊपर आ जायगी।

इस प्रकार यह मत कहिए कि जब आत्मा मुक्त हो जाती है, तब मोक्ष में जाती है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, अतएव जब वह मुक्त होती है, कर्मों के लेप से छूट जाती है, तब ऊर्ध्वगमन करती है।

भगवान् महावीर से कदाचित पूछा जाय कि आप तो ऊपर जा रहे थे, फिर जाते-जाते बीच में ही क्यों अटक गये? तो इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि हम तो ऊपर ही ऊपर जाते, ऊपर जाना हमारा स्वभाव ही है; किन्तु जहाँ रुक गये, वहाँ से आगे जाने का साधन ही नहीं है। धर्मास्तिकाय की सहायता नहीं मिलती है।

मछली से पूछो कि तैरते-तैरते तू किनारे तक आ पहुँची है, तो और आगे क्यों नहीं जाती? क्या आगे बढ़ने की शक्ति तुझमें नहीं रही? वह कहती है—आगे जाने की शक्ति है; किन्तु पानी हो तो आगे जाऊँ।

अभिप्राय यह है कि गति का बाह्य निमित्त धर्मास्तिकाय है। वही जीवों और पुद्गलों की गति में सहायक होता है। वह जहाँ तक है, वहाँ तक गति होती है और जहाँ उसका अभाव है, वहाँ गति का भी अभाव है। यही कारण है कि मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते-करते लोक के अग्रभाग तक पहुँचते हैं और फिर वहीं अटक जाते हैं।

भगवान् महावीर यों लोकाग्र भाग में जाने के लिए नहीं गए। वहाँ रहने के लिए रवाना नहीं हुए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि अब मैं मोक्ष में जाकर रहूँगा। वहाँ कोई पड़ाव नहीं पड़ा है। वे तो अनन्त-अनन्त, अविराम यात्रा पर चले थे, पर जब गतिक्रिया का साधन नहीं रहा, तो वहीं रह गये।

एक भाई ने प्रश्न किया—वे ऊपर नहीं जा सकते थे, तो इधर-उधर ही क्यों नहीं चले गए? अर्थात् आगे अलोक में जाने के लिए धर्मास्तिकाम नहीं था तो न सहा, लोक के अन्दर तो है और वे इधर-उधर ही क्यों नहीं घूम लेत? मगर मुक्त जीव इधर-उधर नहीं घूमते हैं। मैं कह चुका हूँ कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है, अतएव वह ऊपर तो जा सकती है, अतः वह इधर-उधर नहीं घूम सकती। मुक्त जीव का स्वभाव तिर्छा गमन करने का नहीं है। तिर्छा जाया जाय, तो कर्मों की प्रेरणा से जाया जाता है; मुक्त जीव कर्मों से रहित हैं, तो ये तिर्छा गमन कैसे करेंगे? अतएव वे जहाँ रुक गये, वहीं रुक गये।

अच्छा; इतने विवेचन की भूमिका को ध्यान में रखते हुए अब मूल विषय पर आइए। मैंने कहा था कि अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि जो भी आत्मा के निज गुण हैं, वे एक-एक बुराई को नष्ट करके आत्मा को अपने असली स्वरूप में पहुँचाते हैं। इसका अर्थ यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य आदि विकार जितनी मात्रा में आत्मा में रहेंगे, उतनी

हीं मात्रा में हम आत्मा से बाहर रहेंगे और संसार की परिणति में रहेंगे। और जितने-जितने अंशों में हम क्षमा, अहिंसा, सत्य आदि की ओर जाते हैं, उतने-उतने अपने स्वभाव की ओर जाते हैं।

मैंने कहा था कि अहिंसा, अहिंसा के लिए और सत्य, सत्य के लिए होना चाहिए। इसका आशय यह है कि अहिंसा, सत्य आदि का आचरण आत्मा को उत्कृष्ट भूमिका पर पहुँचाने के लिए होना चाहिए। इस लोक या परलोक-सम्बन्धी भय से बचने के लिए अथवा निन्दा से बचने के लिए अहिंसा और सत्य का आचरण नहीं करना है। हमें तो सिर्फ अपनी आत्मा का ही भय होना चाहिए कि कहीं आत्मा दूषित न हो जाय। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर आत्मा का कल्याण हो जाता है।

कल्पना कीजिए, हम या आप में से कोई साधक है। उसके पास एक देवता आकर सन्देश देता है। कहता है—"आपको मोक्ष मिल सकता है, किन्तु आप पहले नरक में जायँ। नरक में दस-बीस हजार वर्ष तक दुःख भोग लेने के पश्चात् आपको मोक्ष मिल जायगा।" दूसरी ओर वही देवता कहता है—"यदि आप देवलोक में जाना चाहें, तो वहाँ कोटाकोटि सागरोपम पर्यन्त स्वर्गीय सुख भोग लेने के पश्चात् मोक्ष मिलेगा।" स्पष्ट है कि नरक में जाने पर अल्पकालीन दुःख है और स्वर्ग में जायँगे, तो बहुत लम्बे समय तक सांसारिक सुख मिलेगा। किन्तु सुख या दुःख भोग लेने के पश्चात् ही मोक्ष मिलेगा। ऐसी स्थिति में साधक कहाँ जाना स्वीकार करे? आपके सामने यह दो विकल्प रख दिये जाएँ, तो आप किसे स्वीकार करेंगे?

आपके मन की बात मैं नहीं जानता। संभव है आप नरक के दुःखों से बचना चाहें और देवलोक के सुखों का प्रलोभन न

छोड़ सकें। ऐसा हो तो समझ लेना चाहिए कि अभी आपकी साधना का परिपाक नहीं हुआ है। अभी तक आप सच्चे साधकों की कोटि में नहीं आये हैं। सच्चे साधक के मन में दो विकल्प उठ ही नहीं सकते। उसके पास एक ही उत्तर है और वह यह कि मुझे नरक और स्वर्ग से कोई मतलब नहीं है। मेरा एकमात्र उद्देश्य अपनी आत्मा को बन्धनों से छुड़ाना है। अतएव जो जल्दी का रास्ता है, वही मुझे पसंद है।

बात अटपटी-सी लगती है, किन्तु गहरा विचार करने पर मालूम हो जाता है कि कोई लम्बा रास्ता क्यों ले? मोक्ष का स्वरूप जिसके ध्यान में आ गया है, वह स्वर्ग का लम्बा और चिरकाल में तय होने वाला रास्ता क्यों लेगा? नरक का रास्ता कष्टकर होते हुए भी यदि सीधा है और शीघ्र ही पार किया जा सकता है, तो साधक उस पर जाने से क्यों हिचकेगा?

मैं नरक या स्वर्ग में जाने की बात नहीं कहता। मैं यह कहता हूँ कि नरक में जाने से यदि जल्दी मोक्ष मिलता है, तो साधक नरक में जाने के लिए भी तैयार रहेगा।

श्रेणिक को नरक में जाने की बात मालूम हुई, तो वह रोता रहा और प्रभु के चरणों में पड़ता रहा। किन्तु भगवान् ने फर्माया "क्या बात है, क्यों रोते हो? चौरासी हजार वर्ष तक नरक के दुःख भोगने के बाद, एक दिन तुम भी मेरे समान ही तीर्थंकर बनोगे।" भगवान् की यह वाणी कान में पड़ते ही श्रेणिक हर्ष से विभोर होकर नाचने लगा और कहने लगा—"भगवन्! तब तो चौरासी हजार वर्षों की क्या गिनती है। इतना समय तो चुटकियों में पूरा होता है।"

इतने विवेचन से आप समझ सकेंगे कि सम्यग्दृष्टि की कैसी दृष्टि होती है? वह संसार के सुख-दुःख को समान भाव

से ग्रहण करता है। सुख में हर्ष और दुःख में विषाद उसे स्पर्श नहीं करता। सुख और दुःख को वह आत्म-शुद्धि का साधन-मात्र समझता है और अपने भाव के द्वारा वास्तव में वह उन्हें आत्म-शुद्धि का साधन ही बना लेता है। उसे सुख का लोभ नहीं, दुःख में क्षोभ नहीं। निरन्तर आत्मा को बन्धनहीन बनाना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। सम्यग्दृष्टि की यह दृष्टि ही सत्य की दृष्टि है। इसी दृष्टि से जो सत्य के पथ पर चलता है, वही वास्तव में सत्य के पथ का पथिक है। वही परम कल्याण-रूप निर्वाण का भागी होता है।

—:-*-:—
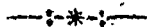
सत्य और दुर्बलताएँ

सत्य के सम्बन्ध में कुछ बातें आपके सामने कहा जा चुकी हैं। फिर भी वह जीवन का सत्य इतना विराट है कि उसे हमारा चिन्तन नापना चाहे, तो नाप नहीं सकता है। वाणी की तो बात ही क्या है? उस बेचारी की तो शक्ति ही कितनी है? वह तो चिन्तन के साथ चलती-चलती ही लड़खड़ा जाती है। फिर भी हमारे पास किसी भी वस्तु या शक्ति के सम्बन्ध में विचार करने का और कोई साधन नहीं है। अतएव चिन्तन और वाणी की सीमा में रहकर ही हमें कुछ कहना है।

पहले बतलाया जा चुका है कि सत्य क्या है? सत्य वाणी या बोलने का ही सत्य नहीं है। अलबत्ता, वाणी का सत्य भी हमारे जीवन का एक अंग है और साधना का मार्ग है और हमारे महापुरुषों ने उसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है, उसका आचरण भी किया है और उसके द्वारा जीवन की गुत्थियों को भी सुलझाया है; किन्तु वाणी के सत्य में प्राण डालने वाला मन का सत्य है। मन का सत्य निकल जाता है, तो कोरा वाणी का सत्य निष्प्राण हो जाता है। वह सत्य, सत्य नहीं रहता।

हमारा जीवन समष्टि का जीवन है। उसके ऊपर समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है और सम्पूर्ण विश्व का उत्तरदायित्व है। परन्तु उसको जिस विराट सत्य के लिए चलना चाहिए था, वह वहाँ से भटक गया और केवल शब्दों के सत्य पर अटक

रहा। समझ लिया गया कि सत्य की इतिश्री हो गई, समग्रता आ गई और सत्य की साधना पूर्णता पर पहुँच गई। इस प्रकार अपूर्णता को पूर्णता समझ लिया गया और परिणाम यह हुआ कि जीवन में अनेक भूलें प्रवेश कर गईं।

हाँ, तो सचाई यह है कि वाणी का सत्य ही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। जहाँ हम सोचते हैं, बोलते हैं या जीवन की कोई भी प्रवृत्ति करते हैं, सर्वत्र जीवन के सामने सत्य खड़ा होना चाहिए। जिस विचार, आचार और उच्चार के सामने सत्य नहीं, वह विचार, विचार नहीं, आचार आचार, नहीं और उच्चार, उच्चार नहीं।

शास्त्रकारों ने सत्य के विषय में बड़ी-बड़ी बातें कहीं हैं। वे इतनी बड़ी हैं कि हम उन्हें काल्पनिक समझने लगते हैं। किन्तु वास्तव में वे ऐसी नहीं कि हो ही न सकती हों। इतिहास पढ़ने वालों ने पढ़ा होगा और सुनने वालों ने सुना होगा कि भारत की एक सन्नारी ने सत्य की महान् उपासना की थी। उसके सामने एक तरफ दुःखों का पहाड़ था, काँटों की राह थी और दूसरी तरफ प्रलोभन थे और फूलों का मार्ग था। पर वह थी कि न दुःखों से भयभीत हुई और न सुख में फूली ही। उसने छह-छह महीने काँटों पर गुजारने के बाद भी अपने जीवन को सत्य के मार्ग पर ही कायम रखा। प्रचण्ड-शक्ति रावण के पंजे में पड़कर भी सती सीता अखण्ड सत्य की प्रतीक ही बनी रही। समुद्र में गोता लगाकर भी वह सूखी आई और एक पल्ला भी उसका नहीं भीगा।

सीता धधकते हुए अग्नि-कुण्ड के सामने खड़ी है। लपलपाती हुई लपटें आसमान से बातें कर रही हैं। किन्तु सीता निर्भय भाव से उस कुण्ड में छलांग लगाने को तैयार है। उसने छलांग लगाई और हजारों आदमियों के मुँह से 'आह' निकल पड़ी! परन्तु सब

के देखते-देखते वह जाज्वल्यमान अग्नि पानी के रूप में बदल गई। अग्नि का कुण्ड लहराता हुआ पानी का कुण्ड बन गया। जब भारत के पुराने इतिहास की यह कहानियाँ हम पढ़ते हैं, तो सोचते हैं—यह कहानियाँ हमें कौन-सा रास्ता दिखलाती हैं?

राम सामने खड़े थे और वे स्वयं सीता से अग्नि के कुण्ड में कूदने को कह रहे थे। जनता भी लाखों की संख्या में खड़ी थी। बहुतों के मन में वेदना थी और वे आपस में कहते थे—ऐसा नहीं होना चाहिए, यह वेदना कम नहीं दी जा रही है। उस भीषण स्थिति में सारा संसार का बल एक किनारे खड़ा हो गया, धन-वैभव और नाते-रिश्तेदारों की शक्तियाँ भी आग बन कर खड़ी हो गईं, कोई काम नहीं आ रहा है। अगर कोई काम आ रहा है, तो एकमात्र जीवन का परम सत्य ही काम आ रहा है।

सीता ने अतिशय गंभीर वाणी में कहा—"दिन गुजरा या रात गुजरी, मैं अयोध्या के महलों में या रावण के यहाँ रही; मेरा शरीर कहीं भी रहा, अगर मैंने धर्म की सीमा में रह कर जीवन व्यतीत किया है, अगर मैं अपने सत्य पर अविचल रही हूँ, तो तो यह जलती हुई आग पानी बन जाय!" इतना कहकर आग में वह कूद पड़ी और सत्य के प्रभाव से अग्नि पानी के रूप में परिणत हो गई!

तो इस प्रकार सीता के रूप में, द्रौपदी के रूप में, अंजना के रूप में या किसी भी सत्यवती सन्नारी के रूप हम जिस सत्य की परम गाथा दोहराते आ रहे हैं, वह सत्य कितना बड़ा है? उस परम सत्य की शक्ति कितनी विराट है? वह सत्य अगर वचनों का ही सत्य होता, जो आपके सामने है, वही सत्य का रूप अगर उनके जीवन में होता, तो उसका यह विस्मय-जनक रूप हमें दिखाई न देता।

परन्तु वह सत्य तो जीवन का सत्य था। जीवन का सत्य संसार की प्रकृति में हर जगह तबदीलियाँ कर सकता है।

दार्शनिक क्षेत्र में एक प्रश्न बड़ा ही विकट है। पूर्वाचार्यों ने उस पर चिन्तन किया है और आज भी चिन्तन किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि अन्तर की चेतना बाहर के वातावरण से प्रभावित होती है या बाहर का वातावरण आन्तरिक चेतना से प्रभावित होता है ? एक तरफ तो हम अपनी सीमाओं को लेकर खड़े हैं और दूसरी तरफ विराट जगत् है। क्या चेतना में इतनी सामर्थ्य है कि वह इस विशाल विश्व को प्रभावित कर सके ? अथवा चेतना स्वयं ही प्रभावित होती रहती है ?

आप कहीं बाहर जाते हैं और आपको चोर डाकू सामने मिल जाता है, तो आप अन्दर प्रभावित होते हैं, भयभीत होते हैं और रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। तो ऐसा लगने लगता है कि आप और हम बाह्य जगत् से अन्दर में निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं।

कोई सज्जन मिलता है, तो हम प्रभावित होते हैं, प्रसन्न होते हैं। कोई तिरस्कार करता है, तो अन्तर में आग सुलगने लगती है और भय की बातें सुनकर भयभीत हो जाते हैं। इन सब बातों से यही प्रतीत होता है कि बाहर के द्वारा हमारे अन्दर का जीवन प्रभावित हो रहा है।

किन्तु प्रभावित होने की यह प्रक्रिया कब तक चालू रहती है ? आखिरकार प्रभावित होने की कुछ सीमाएँ हैं। आप जानते हैं कि जब आत्मा वीतराग दशा प्राप्त कर लेने के पश्चात् कैवल्य अवस्था में पहुँच जाती है, जब भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ जैसे महापुरुषों ने साधारण जीवन व्यतीत करने के पश्चात् केवल-ज्ञान का महान् प्रकाश प्राप्त कर लिया और अनन्त आत्मिक शक्ति उनमें आविर्भूत हो गई तो क्या वे बाहर से प्रभावित हुए ? ऐसे

पहुँचे हुए महापुरुष, कितना ही सत्कार और कितना ही तिरस्कार पाकर रंचमात्र भी भीतर में प्रवाहित नहीं होते। यही नहीं, उनकी परम आध्यात्मिक शक्ति बाहर को, बाह्य जगत् को प्रभावित करने लगता है।

जब तक आत्मा बाहर से प्रभावित होती है, समझना चाहिए कि अन्दर की शक्ति का झरना फूटा नहीं है। और जब तक आन्तरिक शक्ति का झरना नहीं फूटता और प्रखर तेज पैदा नहीं होता, तब तक हमारी चेतना संसार को प्रभावित नहीं कर सकती। अभिप्राय यह है कि जहाँ तक हमारी नीची दशाएँ हैं, हम बाहर से प्रभावित होते हैं और जब हमारी चैतन्य-शक्ति प्रबल हो जाती है, तो हम संसार को प्रभावित करने लगते हैं।

तो फिर सच्चा सत्य और अहिंसा क्या है ? मैं शब्द बोल रहा हूँ, और एक ऐसा शब्द बोल रहा हूँ, जिस पर श्रोता ध्यान नहीं दे रहे हैं ? सत्य के साथ 'सच्चा' विशेषण लग रहा है और वह विशेष अभिप्राय से लगाया गया है। सच्चा सत्य कहने का मतलब यह है कि सत्य जो हो, वह भी सच्चा होना चाहिए। और जब तक सत्य सच्चा नहीं होता है, चेतना बाहर से प्रभावित होती रहती है। जैसे, हम सत्य को अपना कर चले, मन में और विचारों में सत्य को लेकर चले, किन्तु मालूम हुआ कि हमारी परिस्थितियाँ इंकार कर रही हैं उस सत्य के लिए, और सामाजिक वातावरण या साम्प्रदायिक मान्यताएँ चारों ओर से इंकार कर रही हैं, उस सत्य के लिए, तो हम उस सत्य को किनारे डाल देते हैं और उस वातावरण या परिस्थिति के अनुरूप ढल जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि मन में जो सत्य आया था, वह सच्चा सत्य नहीं था। सच्चा सत्य आ जाता, तो चाहे सारा संसार ही हमारे विरोध में

क्यों न खड़ा हो जाता, हमें उसकी परवाह न होती और हम उस सत्य के लिए ही डट कर अड़ जाते।

कल मैंने कहा था कि सत्य सत्य के लिए है, अर्थात् उस सत्य में दृढ़ता आनी चाहिए और ऐसी दृढ़ता आनी चाहिए कि बाह्य वातावरण से वह प्रभावित न हो सके, वरन् बाह्य वातावरण को ही प्रभावित कर सके। सत्य की उपासना करना ही जब सत्य की उपासना का उद्देश्य बन जायगा, तब लोभ, लालच, प्रतिष्ठा और स्वार्थ की कोई भी भावना उससे किनारा काटने के लिए नहीं बरगला सकेगी, वह सत्य बाह्य वातावरण से प्रभावित नहीं होगा और शब्दों की गलियों में से रास्ता नहीं निकालना पड़ेगा। उस समय सत्य अपने-आप में ही होगा और मन में से उसका मार्ग तय किया जायगा। कोरा शाब्दिक सत्य गलियाँ निकालने की फिराक में रहता है, यह बात मैं एक दिन कह चुका हूँ।

एक बार कुछ बच्चों ने कहा—कहानी सुनिए। हम जबकि सुनाया करते हैं, तो कभी-कभी सुन भी लिया करते हैं। तो बच्चों ने अपने मनोरंजन के लिए कहानी सुनाई। कहा—दो विद्यार्थी थे। वे बाजार में गये, तो एक फलवाले की दुकान पर सेव देख कर संकल्प-विकल्प में पड़ गये और दोनों ने सेव लेने की मंत्रणा की। मगर सेव खरीद कर लेने के लिए जेब में पैसा होना आवश्यक था। पैसों के विना सेव नहीं मिल सकते थे।

एक ने कहा—सेव कैसे मिल सकते हैं?

दूसरा बोला—कुछ हथकंडे करेंगे और मिल जाएँगे।

पहला—किन्तु गुरूजी ने कहा है—सत्य बोला करो। सत्य बोलते हैं, तो सेव नहीं पा सकते।

दूसरा—मेरे पास एक कला है, जिससे सत्य भी रहेगा और सेव भी मिल जाएँगे।

दोनों विद्यार्थी दुकान पर जाकर अलग-अलग खड़े हो गए। दुकान पर भीड़ थी और दुकानदार ग्राहकों के लेन-देन में लगा था। मौका पाकर एक ने सेव उठाया और दूसरे साथी की जेव में डाल दिया। इसके बाद दोनों ने परामर्श किया कि यहाँ से सच्चे बन कर चलना है, नहीं तो चोर कहलाएँगे। इसलिए तुम कहना मैंने सेव उठाया नहीं है और मैं कहूँगा कि मेरे पास सेव नहीं है।

अब भीड़ हट चुकी थी और यह दोनों खड़े थे। दुकानदार को कुछ सन्देह हुआ। उसने पूछा—तुमने सेव उठाया है? जिसकी जेव में सेव था, उसने कहा—मैंने सेव उठाया ही नहीं, छुआ भी हो तो परमात्मा जो दंड दे, उसे भुगतने को तैयार हूँ।

दुकानदार ने दूसरे से पूछा, तो वह बोला—सेव मेरे पास हो, तो मैं परमात्मा का दंड भुगतने को तैयार हूँ।

आखिर दुकानदार ने कहा—अच्छी बात है जाओ। दोनों खुशी-खुशी आ गये और सेव खाने लगे। दूसरे ने कहा—देखी मेरी युक्ति? सच भी बोले और सेव भी मिल गया।

इसलिए मैं कहता हूँ कि दुनिया के पदार्थ भी मिल जाएँ और इन लड़कों की तरह सच्चे भी बने रहें, यह धारणा मन में से निकाल दो। नहीं निकालोगे, तो सत्य की उपासना नहीं कर सकोगे। एक मन में दो परस्पर विरोधी रूप नहीं हो सकते। मन में चाहे सत्य को बिठलाओ या असत्य को। दोनों एक साथ नहीं बैठ सकते। एक ही सिंहासन पर राम और रावण दोनों कैसे बैठ सकते हैं?

वचन एक ऐसी चीज है और शब्दों का व्यवहार ऐसा है कि वहाँ आप मनचाहा ढंग बना सकते हैं, गली तलाश कर सकते हैं। जिसकी जेव में सेव पड़ा है, वह कहता है—मैंने सेव नहीं उठाया

और जिसने उठाया है वह कहता है—मेरे पास सेव नहीं है। य
गली निकालना है। इस प्रकार गली तलाश करने वाला न इधर क
और न उधर का रहता है। यह सत्य की उपासना नहीं है। यह तं
सत्य का उपहास है या आत्म-वञ्चना है। ऐसा करने वाला दूसरों
को धोखा दे सकता है और कदाचित् नहीं भी दे सकता, परन्तु
स्वयं धोखा अवश्य खाता है। वह झूठ-मूठ अपने मन को
बहलाता है। वह आत्म-हिंसा करता है। वह अंधकार में भटक
रहा है। असत्य को असत्य मान कर उसका सेवन करने वाला,
संभव है शीघ्र सत्य के मार्ग पर आ जाय; किन्तु सत्य का ढोंग
करने वाला सत्य की राह पर नहीं आ सकता। उसका मिथ्या
मनस्तोष उसके चित्त में डंक नहीं लगने देता और वह धृष्ट
होकर नीचे ही नीचे गिरता जाता है।

हम सच्चा सत्य उसी को कहते हैं, जो क्रोध, मान, माया,
लोभ और वासनाओं से प्रभावित नहीं होता, इधर-उधर की गली
तलाश नहीं करता और अंधेरे में छिपने की कोशिश नहीं
करता और सत्य के एकमात्र प्रकाश को ही अपना पथ-प्रदर्शक
बनाता है।

जहाँ मन का सत्य होता है, वहाँ गलियाँ नहीं मिलेंगी और
जहाँ वाणी का ही सत्य होगा, वहाँ गलियाँ मिल जाएँगी। इसीलिए
मैंने कहा है—सत्य, सत्य के लिए ही होना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि अगर सत्य की उपासना करनी है, जीवन
में सत्य का आचरण करना है, तो फिर यह नहीं सोचना है कि
संसार क्या कहता है? संसार की क्या स्थितियाँ हैं? और लोग
हमारे विरोधी बन रहे हैं या मित्र बन रहे हैं? फिर तो सत्य का
जो कठोर रूप है, वह जीवन में आ ही जाना चाहिए। इसके
[illegible]त, यदि सत्य के रास्ते पर समझौता हो जाय और जनता

के गलत दृष्टिकोण से प्रभावित होकर सत्य को झुका दिया जाय, तो सत्य, सत्य के लिए नहीं रहा। उस सत्य की अपने-आप में कोई सत्ता नहीं रही, वह तो लोगों की मान्यताओं और ऊलजलूल धारणाओं का अनुचरमात्र रह गया। उसे वास्तविक सत्य के सिंहासन पर किस प्रकार बिठलाया जा सकता है ?

जब हम एक बार अपने जीवन में अहिंसा और सत्य के साथ समझौता कर लेते हैं; तो समझौते का क्रम चल पड़ता है; हम हर जगह दब कर, खिंचकर समझौता करते चलते हैं, हम सत्य की राह पर चलने के बदले सत्य को अपनी राह पर चलाते हुए चलते हैं और सत्य बोलते हैं, तो केवल वाणी का खेल खेलते हैं, मन का खेल नहीं खेलते। हमारी ऊँची-ऊँची मान्यताएँ नीचे झुक जाती हैं और झुकती ही चली जाती हैं। किन्तु सत्य, जब सत्य के लिए ही होता है, तो सत्य का उपासक संसार से प्रभावित नहीं होता। उस सत्य का तेज इतना प्रखर होता है कि वह संसार को प्रभावित कर लेता है।

आज परिवार में, समाज में और संसार में गलत मान्यताएँ और बातें होती हैं, तो लोग चर्चा करते हैं कि गलत परम्पराएँ चल रही हैं। लोग खिन्न होते हैं और वेदना का अनुभव करते हैं। जब उनसे कहा जाता है कि आप उनका विरोध क्यों नहीं करते ? तो झटपट 'किन्तु' और 'परन्तु' लगने लगता है। विवाह-शादियों में अत्यधिक खर्च होता है और इससे हर परिवार को वेदना है; किन्तु जब चर्चा चलती है, तो कहा जाता है—बात तो ठीक है किन्तु क्या करें ?

साधु-समाज में भी कई गलत रूढ़ियाँ और परम्पराएँ चल रही हैं। जब उनके सम्बन्ध में बात कही जाती है, तो कहते हैं—बात तो ठीक है साहब ! किन्तु क्या करें ?

राष्ट्रीय चेतना में भी गड़बड़ है। राष्ट्र के नेताओं और कर्णधारों के साथ विचार करते हैं, तो वे भी यही कहते है—ठीक है, परन्तु क्या करें ?

बस यही 'पर' सारी गड़बड़ियों की जड़ है। यह मानसिक असत्य और दुर्बलता का परिणाम है। यह 'पर' जब पक्षी के जीवन में लग जाते हैं, तो वह ऊपर उड़ने लगता है; किन्तु जब हमारे जीवन में लग जाता है, तो हम नीचे गिरने लगते हैं। यह 'पर' हमारे जीवन को ऊँचा नहीं उठने देता।

'पर' लगा देने का अर्थ यह होता है कि हम कुछ भी करने को तैयार नहीं हैं। उस सत्य के लिए अन्तःकरण में जो जागृति होनी चाहिए, वह नहीं हुई है और सत्य को स्वीकार नहीं किया जा रहा है। कदाचित् स्वीकार किया भी जा रहा है, तो इस रूप में कि जीवन में उस सत्य का कोई मूल्य नहीं है। यानी ऐसे बच्चे को पैदा किया गया है कि जिसे स्वयं जन्म देकर स्वयं ही तत्काल उसका गला घोंट दिया गया है। इस रूप में जब आदमी कहता है कि बात तो सही है, ठीक है, किन्तु क्या किया जाय ? तो इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य को जन्म देकर तत्काल ही उसका गला घोंट दिया गया है! इसी दुर्बलता का परिणाम है कि जो सामाजिक क्रान्तियाँ आनी चाहिएँ, वे नहीं आ रही हैं। समाज में गलत मान्यताओं का एक प्रकार से घुन-सा लग गया है। समाज भीतर से खोखला होता जा रहा है। और यह सत्य का अपमान हो रहा है।

हम शास्त्र की ऊँची-ऊँची बातें करते हैं अर क ई जगह नहीं, जह ऐसी बातें न करते हों। गाँव के लोग मिलते हैं, जिन्हें साफ सुथरा रहने और न बोलने की कला ही आती है, जो जीवन के

ऊँचे ध्येय की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे भी आपस में परमात्मा और मोक्ष-सम्बन्धी ऊँची-ऊँची बातें किया करते हैं और ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन्हें जो समाज या परिवार मिला है, उसमें रहने में उन्हें रस नहीं है—प्रीति नहीं है और वे दूसरी जगह की तैयारी कर रहे हैं! किन्तु दुर्भाग्य से वहाँ की तो क्या, यहाँ की भी उनकी तैयारी नहीं है। वे इन्सान के रूप में सोचने को उतनी तैयारी नहीं करते हैं, जितना कि परब्रह्म के रूप में सोचने को तैयार होते हैं। इस रूप में हम समझते हैं कि भारत के मन में एक चीज आ गई है। वह यह कि जो जीवन भारतीयों को मिला है, वह उन्हें पसन्द नहीं है और जो जीवन उनकी कल्पना में ही नहीं है, वहाँ दौड़ने की वे कोशिश करते हैं। ये तो वही विद्यार्थी हैं कि जो विषय उन्होंने ले लिया है, उसमें उनकी रुचि नहीं है और दूसरे विषय में रस लेने दौड़ते हैं।

जब जीवन की ऐसी व्यवस्थाएँ चलती हैं, तो लोग समाज का क्या चिन्तन लेकर आएँगे ? ऐसा समाज सड़ने को है, डट कर लड़ने को नहीं है ?

यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि यह बातें हमारे ही देश में चलती हैं और विदेशों में नहीं। मनुष्य की प्रकृति प्रायः समान होती है, और न्यूनाधिक रूप में सभी देशों की स्थिति, खास तौर पर मानसिक चिन्तन-सम्बन्धी समान ही है।

मुझे आपके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कोई सीधी जानकारी नहीं है। किन्तु थोड़ी-सी जानकारी मिली कि इधर आपके राजस्थान-प्रान्त में जब किसी परिवार में मृत्यु हो जाती है, तो उस परिवार के लोग, और उनमें भी विशेषतया स्त्रियाँ—बहुत दिनों तक रोती हैं। दूसरे स्नेही-जन भी जाकर उनके रोने में सहायक बनते हैं! भला सोचिए तो सही कि जो परिवार अपने

आपको सान्त्वना नहीं दे सकता और जिसे आपकी सान्त्वना की आवश्यकता है, उसके रोने में आप सहायक बनें, उसे और अधिक रुलाएँ, यह कहाँ तक उचित है? ऐसे अवसर पर मृतात्मा के परिवार की सार-सँभाल की जानी चाहिए, उसे तसल्ली बँधाना चाहिए और दर्शनशास्त्र की बातें करनी चाहिएँ कि आत्मा तो अजर-अमर है, संसार सराय है, जो पथिक आया है वह जाने को ही है! संयोग का निश्चित परिणाम वियोग ही है। किन्तु इस प्रकार की बातें न करके महीनों तक रोना और रुलाना किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं है।

बहिनो! यह बातें चल रही हैं, तो क्या ठीक हैं? जैनधर्म पूछना चाहता है कि मरने वाला जब चला जाता है और किसी भी उपाय से वह लौट नहीं सकता, तो उसके लिए निरन्तर शोक और रंज को बढ़ाना और हाहाकार में समय को गुजारना और आर्तध्यान करके अपने बन्धनों को और अधिक मजबूत करना, धर्म का मार्ग है अथवा अधर्म का मार्ग है? ऐसा करने से आपके बन्धन क्या ढीले पड़ते हैं? क्या मृतात्मा को कोई लाभ पहुँच सकता है?

भगवान् महावीर का आदेश है कि जहाँ-जहाँ आर्तध्यान है, जहाँ-जहाँ रुदन, क्रंदन, शोक और संताप है, वहाँ कर्म-बन्धन है। जो ऐसा करते हैं, वे कर्मों का बन्धन करते हैं, अपने-आपको गिरा रहे हैं; और जो वहाँ जाकर रोने में निमित्त बनते हैं, शोकसंताप को बढ़ाने वाली बातें करते हैं, वे भी कर्म-बन्धन करते हैं।

हमें विचार करना है कि जैन धर्म-जैसा धर्म क्या आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान करने को कहने के लिए आया है? पारिवारिक जीवन नहीं। यह सान्त्वना का मार्ग नहीं है, यह तो परिवार को नीचे गिराने का मार्ग है। यदि योग्यता है,

तो उसको लेकर दुखियों के दरवाजे पर जाओ। रोते को और रुलाया तो क्या विशेषता हुई? रोते के आँसू पोंछो, उसे सान्त्वना दो। यह क्या बात है कि एक महीने तक रोते रहे और रुलाते रहे। पर आपकी तो समझ जोरदार है रोने में और एक महीने तक रोते रहते हैं; किन्तु उस परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं करते। छोटे-छोटे बच्चे, परिवार के नौनिहाल और समाज के चमकते हुए रत्न जो धूल में मिल रहे हैं, उनकी ओर आपका ध्यान नहीं जाता। उनकी शिक्षा-दीक्षा कैसी चल रही है, आप सारी जिंदगी तक नहीं पूछते हैं। तो फिर रोने का और उन्हें सान्त्वना देने का क्या अर्थ है? अगर आप उन रोने वालों के सहायक नहीं बनते, उनके भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए कोई काम नहीं करते, तो आपकी सहानुभूति और समवेदना का क्या मूल्य है? धर्म का आदेश तो यह है कि अगर कोई रोने वाला है, तो दृढ़धर्मी बन कर उसके साथ रहो और उसके पारिवारिक जीवन की समस्याओं में रस लो; केवल रोने में ही रस मत लो।

तो, यह जो परम्पराएँ चल रही हैं, उनके संबंध में कई भाई कहते हैं कि एक मजबूत आन्दोलन उठाया जाय। यदि आप रोने को अच्छा समझते हो, उस रोने को धर्मध्यान या शुक्ल-ध्यान कहते हो, आपकी समझ में वह मोक्ष का मार्ग है और पतन का मार्ग नहीं है, तो आप और हम शास्त्रों को सामने रखकर विचार करें। इसके विपरीत यदि आपका विश्वास है कि यह रोना गलत चीज है और ठीक नहीं है, तो मैं कहना चाहता हूँ कि इसके साथ 'पर' मत लगाइए। 'पर, हम क्या करें' यह मत कहिए। यह तो साधारण-सी चीज है और इसे अनायास ही हटाया जा सकता है। आप जहाँ कहीं मातमपुर्सी करने जाएँ, सद्भावना लेकर ही जाएँ और उस सद्भावना के अनुसार

व्यवहार भी करें, तभी आपकी मातमपुर्सी का कुछ मोल आँका जायगा।

प्राचीनकाल में, भारतवर्ष में, मरने वाले के पीछे स्त्रियाँ मर जाती थीं। किन्तु भगवान् महावीर ने इस वृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभावशाली तरीके से विरोध किया था। उन्होंने इस प्रकार के मरण को 'अज्ञानमरण' और 'बालमरण' कहकर पुकारा था। मेरा पति मर गया है, तो मैं भी मर जाऊँ और उसके पास पहुँच जाऊँ, इस भावना से मरना अज्ञानी का मरना है और यह नरक-निगोद का रास्ता है। इस प्रकार मरने वालों को स्वर्ग और मोक्ष नहीं मिलता। जो मर गया है, तुम्हें मालूम है, वह मर कर कहाँ गया है? और फिर वहीं पहुँच जाना और उससे मिल जाना, क्या तुम्हारे हाथ की बात है? फिर भी समझा जाता है कि हम मर कर उससे मिल जाएँगे। मृतात्मा अगर नरक में जाकर नारक बन गया है या कीड़ा-मकोड़ा हो गया है, तो क्या तुम भी इसी रूप में जन्म लेकर उससे मिल जाओगे? लेकिन उस समय की साधारण जनता में ऐसे ही भ्रमपूर्ण विचार फैले थे। भगवान् महावीर ने उनकी आँखें खोली थीं और उनके भ्रम को भंग किया था।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि उस जमाने में सभी की यही धारणा थी। नहीं, तब भी विवेकशील नर-नारियों का अभाव नहीं था। उस समय भी लोग थे और किसी प्रियजन के मरने पर उनके अन्तःकरण में कर्त्तव्य की भावना जागृत होती थी और वे अपने उसी कर्त्तव्य में जुट जाते थे, जीवन के परम सत्य की उपलब्धि के लिये तत्पर हो जाते थे। आज ऐसे ही विवेकशील व्यक्ति हमारे लिए आदर्श होने चाहिएँ। हमारे मन में जीवन के प्रति उच्च श्रेणी का विवेक जागृत होना चाहिए।

एक सन्त हुए हैं आनन्दघन। मैंने उनके जीवन की एक कहानी पढ़ी थी। उसका आशय इस प्रकार है :—

एक बहुत बड़े सेठ का लड़का था। वह मर गया, तो उस समय की परम्परा के अनुसार उसकी पत्नी, पति के पीछे सती होने के लिए चलने लगी। जब श्मशानभूमि में चिता रखी जा रही थी और स्त्री उसमें जलने को तैयार थी कि उसी समय सन्त आनन्दघन अचानक उधर से निकले। उन्होंने निकट आकर पूछा—यह क्या हो रहा है ?

उत्तर मिला—अमुक सेठ के लड़के का देहान्त हो गया है और उसकी यह पत्नी सती हो रही है।

यह सुनकर सन्त के हृदय में करुणा का प्रबल स्रोत उमड़ पड़ा। उन्होंने सोचा—एक आत्मा तो चली ही गई, किन्तु उसके पीछे दूसरी की मृत्यु हो रही है। यह परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए कलंक की बात है कि गलत मान्यता के कारण एक होनहार व्यक्ति को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ रही है। जो मर गया, उसका तो विरोध नहीं किया जा सकता; किन्तु जो मर रहा है, उसका अवश्य विरोध किया जा सकता है और उसे बचाने का प्रयत्न भी किया जा सकता है।

इस प्रकार विचार कर उन्होंने उस स्त्री से कहा—बहिन, तुम क्यों मर रही हो ? मृतात्मा को तुमने मारा नहीं है, यही नहीं, वरन् उसे बचाने का ही प्रयास किया है, फिर तुम्हारे मरने का क्या कारण है ?

स्त्री—मैं मरना चाहती हूँ, इसलिए कि परलोक में मुझे पति मिल जाएँगे।

सन्त—वे कहाँ गये हैं और किस रूप में हैं, यह तुम्हें मालूम है ?

स्त्री—यह तो नहीं मालूम।

सन्त—तो फिर कैसे उनके पास पहुँचोगी ?

सन्त फिर कहने लगे—मृतात्मा का स्थान निश्चित नहीं है। यह जगत् बहुत विशाल है और असंख्य-असंख्य जीवों की योनियाँ एवं अवस्थाएँ हैं। मरने के पश्चात् कौन जीव, किस लोक में जाता है और किस योनि में जन्म लेता है, यह तुम्हें और हमें भी नहीं मालूम है। हम जितना कुछ जानते हैं, उसके आधार पर यही कह सकते हैं कि जीव अपने-अपने कर्मों और संस्कारों के अनुरूप ही अगली स्थिति प्राप्त करता है। जिसका पिछला जीवन पवित्र और सत्संस्कारों के सौरभ से सुरभित रहा है, वह आगामी जीवन उच्च श्रेणी का प्राप्त करता है। उसके जीवन की ऊँचाई और बढ़ जाती है। और हम यह भी जानते हैं और भगवान् महावीर के कथन के आधार पर जानते हैं कि आत्म-हत्या करना बड़ा भारी पाप है। आत्म-हत्या करके मरने वाला कभी ऊँची स्थिति, उच्चतर जीवन नहीं पा सकता। बहिन, तुम आत्म-हत्या कर रही हो, अतएव ऊँची स्थिति नहीं पा सकोगी। ऐसा करके तो नरक ही पाया जाता है। अगर तुम्हारा विश्वास है कि तुम्हारे पति ने भी नारकीय जीवन प्राप्त किया है, तो बात दूसरी है। फिर तो तुम भी नरक की राह पर जा सकती हो। मगर नरक में जाकर मिलने का अर्थ ही क्या है ? और फिर नरक भी कहाँ एक ही है ?

संत कहते गये—बहिन, जरा गहराई से सोचो। अपने अन्तःकरण से मोह के आवेश को निकाल दो। जन-कल्याण की दृष्टि से अपने जीवन का उपयोग करो। तुम्हें इतना सुन्दर मनुष्य का जीवन मिल गया है, हीरा मिल गया है, इसे अपने हाथों बर्बाद मत करो। इसे सुरक्षित रक्खो। इसे बनाये रखकर

समाज और राष्ट्र के सामने अपने उच्च चरित्र के द्वारा ऊँचा आदर्श स्थापित करो। पति के शव के साथ जल-मर कर वह कार्य नहीं कर सकोगी, किन्तु जिंदा रहकर कर सकोगी और पति के नाम को ऊँचा उठा सकोगी।

बहिन! क्या तुमने विचार किया है कि तुम्हारा पति कौन था? पति का शरीर या पति की आत्मा? शरीर को ही पति समझती हो, तो वह तो अब भी मौजूद है। शरीर तो अब भी कहीं नहीं गया है। फिर इस शरीर को जलाने के लिए यह उपक्रम क्यों किया जा रहा है? अगर पति की आत्मा को अपना पति समझती हो, तो उसके मरने की कल्पना करना ही भ्रमपूर्ण है। वह तो अजर और अमर है। उसने तो चोला बदल लिया है और कहीं दूसरे जीवन में चला गया है। उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में इस शरीर के पीछे क्यों मरने को आई हो?

इस प्रकार की शिक्षा से नारी के जीवन की रक्षा हुई और उस सती ने बाद में बड़ा नाम कमाया। उसको सुसराल में भी धन और वैभव मिला था और अपने बाप के घर भी वह सोने के पालने में झूली थी। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन सामाजिक सेवा के हेतु समर्पित कर दिया। संत आनन्दघन की कविता का एक भाग है:—

"कोई कन्त कारण काट भक्षण करे, मलशूं कंतने धाय।
ए मेलो नवि कइये, संभवे मेलो ठाय न ठाय॥
ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो और न चाहूँ रे कन्त॥"

जो बहिन पति से मिलने के लिए उसकी चिता पर जल मरती है, क्या पति से उसका मिलाप हो जाता है? क्या वह अपनी आत्मा को पवित्र बना रही है? नहीं।

स्त्री—यह तो नहीं मालूम।

सन्त—तो फिर कैसे उनके पास पहुँचोगी ?

सन्त फिर कहने लगे—मृतात्मा का स्थान निश्चित नहीं है। यह जगत् बहुत विशाल है और असंख्य-असंख्य जीवों की योनियाँ एवं अवस्थाएँ हैं। मरने के पश्चात् कौन जीव, किस लोक में जाता है और किस योनि में जन्म लेता है, यह तुम्हें और हमें भी नहीं मालूम है। हम जितना कुछ जानते हैं, उसके आधार पर यही कह सकते हैं कि जीव अपने-अपने कर्मों और संस्कारों के अनुरूप ही अगली स्थिति प्राप्त करता है। जिसका पिछला जीवन पवित्र और सत्संस्कारों के सौरभ से सुरभित रहा है, वह आगामी जीवन उच्च श्रेणी का प्राप्त करता है। उसके जीवन की ऊँचाई और बढ़ जाती है। और हम यह भी जानते हैं और भगवान् महावीर के कथन के आधार पर जानते हैं कि आत्म-हत्या करना बड़ा भारी पाप है। आत्म-हत्या करके मरने वाला कभी ऊँची स्थिति, उच्चतर जीवन नहीं पा सकता। बहिन, तुम आत्म-हत्या कर रही हो, अतएव ऊँची स्थिति नहीं पा सकोगी। ऐसा करके तो नरक ही पाया जाता है। अगर तुम्हारा विश्वास है कि तुम्हारे पति ने भी नारकीय जीवन प्राप्त किया है, तो बात दूसरी है। फिर तो तुम भी नरक की राह पर जा सकती हो। मगर नरक में जाकर मिलने का अर्थ ही क्या है ? और फिर नरक भी कहाँ एक ही है ?

संत कहते गये—बहिन, जरा गहराई से सोचो। अपने अन्तःकरण से मोह के आवेश को निकाल दो। जन-कल्याण की दृष्टि से अपने जीवन का उपयोग करो। तुम्हें इतना सुन्दर मनुष्य का जीवन मिल गया है, हीरा मिल गया है, इसे अपने हाथों बर्बाद मत करो। इसे सुरक्षित रक्खो। इसे बनाये रखकर

समाज और राष्ट्र के सामने अपने उच्च चरित्र के द्वारा ऊँचा आदर्श स्थापित करो। पति के शव के साथ जल-मर कर वह कार्य नहीं कर सकोगी, किन्तु जिंदा रहकर कर सकोगी और पति के नाम को ऊँचा उठा सकोगी।

बहिन! क्या तुमने विचार किया है कि तुम्हारा पति कौन था? पति का शरीर या पति की आत्मा? शरीर को ही पति समझती हो, तो वह तो अब भी मौजूद है। शरीर तो अब भी कहीं नहीं गया है। फिर इस शरीर को जलाने के लिए यह उपक्रम क्यों किया जा रहा है? अगर पति की आत्मा को अपना पति समझती हो, तो उसके मरने की कल्पना करना ही भ्रमपूर्ण है। वह तो अजर और अमर है। उसने तो चोला बदल लिया है और कहीं दूसरे जीवन में चला गया है। उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में इस शरीर के पीछे क्यों मरने को आई हो?

इस प्रकार की शिक्षा से नारी के जीवन की रक्षा हुई और उस सती ने बाद में बड़ा नाम कमाया। उसको सुसराल में भी धन और वैभव मिला था और अपने बाप के घर भी वह सोने के पालने में झूली थी। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन सामाजिक सेवा के हेतु समर्पित कर दिया। संत आनन्दघन की कविता का एक भाग है:—

"कोई कन्त कारण काठ भक्षण करे, मलशूं कंतने धाय।
ए मेलो नवि कइये, संभवे मेलो ठाय न ठाय॥
ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो और न चाहूँ रे कन्त॥"

जो बहिन पति से मिलने के लिए उसकी चिता पर जल मरती है, क्या पति से उसका मिलाप हो जाता है? क्या वह अपनी आत्मा को पवित्र बना रही है? नहीं।

अभिप्राय यह है कि हम अपने जीवन के आदर्श को महत्त्व नहीं देते, अपने कर्त्तव्य को महत्त्व नहीं देते और हमारे जीवन के सामने समाज की जो समस्याएँ उपस्थित हैं, उनको भी महत्त्व नहीं देते।

वे मर जाते हैं, किन्तु उनके पीछे ये रो-रोकर, जिन्दगी को घुला-घुला कर समाप्त कर देंगी।

जिस समाज में मरने वाले के पीछे परिवार की नारियाँ रोती हैं, रिवाजी तौर पर उन्हें रोना पड़ता है और रोने जाना पड़ता है, मानना चाहिए कि उस समाज में अभी पर्याप्त विवेक जागृत नहीं हुआ है। जहाँ हम रोने जाते हैं, वहाँ रोने के बदले उस परिवार की सेवा करने क्यों न जाएँ ? रोने के लिए जाने वाले शोकाकुल परिवार को किसी काम-काज में नहीं लगने देते और उनकी शोकाग्नि को हवा देकर प्रज्वलित करते हैं।

आप और दूसरे सभी लोग रोने के विषय में कह तो देते हैं कि यह गलत चीज़ है; किन्तु साथ ही जोड़ देते हैं पर, क्या किया जाय ? और इस प्रकार इस सर्वव्यापी 'पर' के द्वारा हर चीज़ को कुचल देते हैं।

जहाँ इस प्रकार की दुर्बलताएँ पायी जाएँगी, वहाँ सत्य प्रस्फुटित नहीं हो सकता। सत्य की आराधना और उपासना जिन्हें करनी है और सत्य को ही जो अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बनाना चाहते हैं, उन्हें वे दुर्बलताएँ त्याग देनी होंगी। उन्हें दृढ़तापूर्वक समग्र प्राणशक्ति एकाग्र करके सत्य का ही अनुसरण करना होगा। ऐसा करने पर ही सत्य भगवान् की वरद छाया आप प्राप्त कर सकेंगे।

—:-*-:—

सत्य-धर्म का मूल : मानवता

सृष्टि की विराटता की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाइए। जड़-जगत् की विशाल पदार्थ-राशि को थोड़ी देर के लिए भूल जाइए, और केवल प्राणी-सृष्टि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कीजिए। पता चलेगा कि असंख्य प्रकार के प्राणी इस विश्व के उदर में अपना-अपना जीवन-पालन कर रहे हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पंचेन्द्रिय, समनस्क पंचेन्द्रिय, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि की गणना करना ही संभव नहीं है ? वर्षा का मौसिम आता है, तो घास-फूंस से ही धरातल व्याप्त नहीं हो जाता; अन्य अगणित सम्मूर्छिम जीवों से भी पृथ्वी परिपूर्ण हो जाती है। कोटि-कोटि क्षुद्र कीट इस धरती की पीठ पर बिलबिलाने लगते हैं, रेंगते लगते हैं और हमें विस्मय में डाल देते हैं !

फिर इसी धरातल की सीमा के साथ तो सृष्टि की सीमा समाप्त नहीं हो जाती। इससे ऊपर भी सृष्टि है और नीचे भी सृष्टि है, जहाँ भाग्यवान् और अभागे असीम प्राणी निवास करते हैं, जिसे हम स्वर्ग और नरक कहते हैं।

इस अत्यन्त विशाल जीव-जगत् में मनुष्य का क्या स्थान है ? कहा जा सकता है कि सागर में एक सलिल-कण का जो स्थान है, वही जीव-जगत् में मनुष्य का स्थान है।

प्राचीन काल के आचार्यों और महापुरुषों ने मानव-जीवन की अमित महिमा गाई है। अनन्त-अनन्त काल तक विभिन्न जीव-योनियों में भटकने के अनन्तर, संसार-चक्र में परिभ्रमण

करने के पश्चात् अत्यन्त प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य-जीवन की प्राप्ति होती है। अगणित जीव-योनियों में जन्म लेने से बचकर मनुष्ययोनि पा लेना, वास्तव में सरल नहीं है। मानव-भव की दुर्लभता बतलाने के लिए हमारे यहाँ बहुत सुन्दर ढंग से दश दृष्टान्तों की योजना की गई है। उन सबको बतलाने का यहाँ अवसर नहीं है। केवल एक दृष्टान्त लीजिए :—

चूर्णीकृत्य पराक्रमान्मणिमयं, स्तम्भं सुरः क्रीडया,
मेरौ सन्नलिकासमीरवशतः क्षिप्त्वा रजो दिक्षु चेत्।
स्तम्भं तैः परमाणुभिः सुमिलितैः कुर्यात्स चेत्पूर्ववत्,
भ्रष्टो मर्त्यभावात्तथप्यसुकृती भूयस्तमप्नोति न॥

किसी देवता को क्रीड़ा करने की सूझी। उसने एक मणिमय खंभे को अपने दिव्य पराक्रम से बारीक पीस डाला और उसका चूरा-चूरा कर दिया। फिर वह एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वत पर चढ़ा। उसने स्तम्भ के उस चूरे को नली में भर-भर कर इधर-उधर, चारों दिशाओं में, हवा के साथ उड़ा दिया। इसके बाद उस देवता को इच्छा हुई कि मैं स्तंभ के बिखरे हुए रज-कणों को एकत्र करूँ और उन्हें जोड़ कर फिर जैसा का तैसा स्तंभ बना दूँ। सोचिए, ऐसा करना देवता के लिए भी कितना कठिन है? बतलाया गया है कि कदाचित् वह देवता उन सब रज-कणों को एकत्र करके पुनः मणिमय स्तंभ का निर्माण करने में समर्थ हो सकता है, मगर पुण्यहीन पुरुष के लिए एक बार मनष्य-भव से च्युत होकर फिर मनुष्य-भव पा लेना कठिन है।

मानव-जीवन इतना दुर्लभ क्यों है? आखिर किस कारण यह इतना स्पृहणीय समझा जाता है? इन प्रश्नों पर विचार करेंगे, तो प्रतीत होगा कि आध्यात्मिक उत्कर्ष की जितनी भी साधनाएँ हैं, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही बहता है।

सत्य, अहिंसा, दया, करुणा और कर्तव्य आदि, जो भी हमारे आदर्श हैं, उनका उदय और परिपाक इसी जीवन में संभव है।

देवताओं की दुनिया बहुत बड़ी दुनिया मानी जाती है। भारतीय दर्शनों ने भोग-विलास की दृष्टि से देवताओं को बहुत ऊँचा माना है, परन्तु चरित्र-बल की दृष्टि से और जीवन-विकास की दृष्टि से, उन्हें मनुष्य से नीचा पद दिया है। दूसरी योनियों की तो बात ही छोड़िए। वहाँ चेतना का उतना विकास ही नहीं है। अतएव मनुष्य-योनि के सिवाय किसी भी अन्य योनि में जीवन की साधना अच्छी तरह हमारे सामने खड़ी नहीं होती।

जैनशास्त्र और दूसरे साथी भी कहते हैं कि न नरक में ही जीवन बनता है और न स्वर्ग में ही। इस कथन का ठीक तौर से विश्लेषण किया जाय, तो प्रतीत होगा कि जहाँ अत्यन्त दुःख है, कष्ट है, और सारा जीवन आंसुओं की धार में बहता रहता है, वहाँ अपने तथा दूसरों के जीवन को सँभालने को कोई बड़ी भारी प्रेरणा नहीं मिल पाती। अर्थात् अत्यन्त दुःखमय स्थिति में जीवन का निर्माण नहीं हो पाता है। इसी प्रकार अत्यन्त सुख में भी जीवन का विकास संभव नहीं है। जहाँ भोग-विलास की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही हो, वहाँ भी जीवन के निर्माण का अवसर मिलना कठिन है।

तो, नरक और स्वर्ग दोनों जगह जीवन का निर्माण संभव नहीं। क्योंकि एक तरफ अत्यन्त दुःख और दूसरी तरफ अत्यन्त सुख है। किन्तु मानव-जीवन ऐसा नहीं है। यहाँ—

चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।

मानव-जीवन में दुःख और सुख गाड़ी के पहिये की भाँति घूमते रहते हैं। कभी दुःख आ पड़ता है, तो कभी सुख आ जाता है। यही इस जीवन का माधुर्य है। इससे सुख-दुःख को समझने

की प्रेरणा मिलती है। जब सुख और दुःख, दोनों मिल व
हमारा जीवन बनाने को तैयार हो जाते हैं, तो जीवन की श्रेष्ठत
हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है।

एक कवि ने बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है। आकाश काले-काले
मेघों से मँढ़ा हो और चाँद उनमें छिपा हुआ हो और बाहर न
निकल पाता हो—सारी रात उसे बादलों में छिपा रहना पड़े, तो
वह चांद हमें सुन्दर नहीं मालूम होता। इसके विपरीत, आकाश
जब एकदम निरभ्र होता है और चांद स्पष्ट रूप से साफ नजर
आता है और बादल का एक टुकड़ा भी नहीं रहता है, तो वह
भी हमारे मन को कोई विशेष प्रेरणा नहीं देता। किन्तु जब
आकाश में मेघ की घटाएँ छितरी होती हैं और चांद उनमें
लुका-छिपी करता है और कभी अन्दर और कभी बाहर आ जाता
है, तो वह दृश्य बड़ा ही मनोरंजक होता है। मनुष्य घंटों उस
चांद के साथ अपने मन को जुटाए रखता है। उससे मनुष्य को,
प्रकृत्ति की ओर से, एक महान् प्रेरणा मिलती है।

यही बात हम मनुष्य के जीवन में भी देखते हैं। मनुष्य का
जीवन भी सुख और दुःख के साथ लुका-छिपी करता रहता है।
वह कभी दुःख में आता है और फिर सुख में आने के लिए प्रयत्न
करता है। सुख में आता है, फिर देखते ही देखते दुःख की
काली घटा में विलीन हो जाता है। इस जीवन में यह क्रम
चलता ही रहता है। लाख प्रयत्न करके भी कोई सुख-दुःख के
इस अनिवार्य चक्र से मुक्त नहीं रह सकता।

दुःख और सुख का यह अनिवार्य चक्र मनुष्य के लिए
अत्यन्त बोधप्रद है। इससे वह समझ लेता है कि जैसे मेरे जीवन
में सुख-दुःख का महत्व है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों के जीवन
में भी। जब मनुष्य दुःख से पीड़ित होता है, वेदना से छटपटाता
है, तो उसे उस दुःख से बड़ी भारी प्रेरणा मिल जाती है।

उसे कल्पना होती है कि जैसे आज मैं दुःखों से छटपटा रहा हूँ, इसी प्रकार मेरे आसपास के लोग भी पीड़ा से कराहते होंगे। और दुःख से छटपटाते हुए मुझे जैसे सहायता की आवश्यकता है, वैसे ही दूसरों को भी सहायता की आवश्यकता होती है। मेरी ही भाँति वे भी दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

इस प्रकार सुख और दुःख व्यक्ति के जीवन को समष्टि के साथ जोड़ने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को पाकर मनुष्य अपने संकीर्ण एवं क्षुद्र अहंकार की परिधि को तोड़कर विशाल प्राणी-जगत् में प्रवेश करता है और अपने अहंत्व को दूसरों के लिए निछावर कर देता है।

इसी प्रकार तुम सुख और आनन्द में हो, तो तुम्हें सोचना है कि जैसे सुख मिलने से मुझे प्रसन्नता हो रही है, वही प्रसन्नता सुख मिलने पर दूसरों को भी होती है। भूख में रोटी मिलने पर और प्यास में एक गिलास पानी मिलने पर, जैसी प्रसन्नता मुझे होती है, मेरा मन जैसा आनन्द-विभोर हो जाता है, उसी प्रकार दूसरों को भी सुखानुभव होता है। इस प्रकार सुख और दुःख मनुष्यता की भेंट करते हैं।

आखिर मनुष्य जीवन का संदेश क्या है? वह सन्देश शास्त्रों से निकल कर नहीं आता है। आखिर, वह तो जीवन को समझने की कला है। मनुष्य सुख और दुःख के गज से नाप कर जब अपने जीवन को समझ लेता है, और जब उसी गज से वह संसार को नापता है, तो उसकी इंसानियत, जो छोटे से घेरे में घिरी थी, विशाल और विराट रूप ले लेती है। मानवता का यह विराट रूप ही मानव-धर्म कहलाता है।

आज तक जो भी धर्म आये हैं और जिन्होंने मनुष्य को प्रेरणाएँ दी हैं, न समझिए कि उन्होंने जीवन में बाहर से कोई

प्रेरणाएँ डाली हैं। यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि हम मनुष्यों को जो सिखाता है और प्रेरणा देता है, जो हमारे भीतर अहिंसा, सत्य, दया एवं करुणा का रस डालता है और हमें अहंकार के क्षुद्र दायरे से निकाल कर विशाल-विराट जगत् में भलाई करने की प्रेरणा देता है, क्या वह बाहर की वस्तु है ? जो डाला जा रहा है, वह तो बाहर की ही वस्तु हो सकती है और इस कारण हम समझते हैं कि वह विजातीय पदार्थ है। विजातीय पदार्थ कितना ही घुल-मिल जाय, आखिर उसका अस्तित्व अलग ही रहने वाला है। वह हमारी अपनी वस्तु हमारे जीवन का अंग नहीं बन सकती।

मिश्री डाल देने से पानी मीठा हो जाता है। मिश्री की मिठास पानी में एकमेक हुई-सी मालूम होती है और पीने वाले को आनन्द देती है; किन्तु क्या कभी वह पानी का स्वरूप बन सकती है ? आप पानी को मिश्री से अलग नहीं कर सकते; किन्तु एक वैज्ञानिक बंधु कहते हैं कि मीठा, मीठे की जगह और पानी, पानी की जगह है। दोनों मिल अवश्य गए हैं और एकरस प्रतीत होते हैं; किन्तु एक विश्लेषण करने पर अलग-अलग हो जाएँगे।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि हमारे जीवन में एक अद्भुत माधुर्य उत्पन्न कर देते हैं, जीवनगत कर्तव्यों के लिए महान प्रेरणा को जागृत करते हैं, और यदि यह चीजें पानी से मिश्री की तरह विजातीय हैं, मनुष्य की अपनी स्वाभाविक नहीं हैं, जातिगत विशेषता नहीं हैं, तो वे जीवन का स्वरूप नहीं बन सकतीं, हमारे जीवन में एकरस नहीं हो सकतीं। सम्भव है, कुछ समय के लिए वे एकरूप प्रतीत हों, फिर भी समय पाकर उनका अलग हो जाना अनिवार्य होगा।

निश्चित है कि हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश बाह्य तत्त्वों की मिलावट से पूरा नहीं हो सकता। एक वस्तु, दूसरी को परि-

पूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। विजातीय वस्तु, किसी भी वस्तु में बांझ बन कर रह सकती है, उसकी असलियत को विकृत सकती है, उसमें अशुद्धि उत्पन्न कर सकती है; उसे स्वाभाविक विकास और पूर्णता एवं विशुद्धि नहीं दे सकती।

इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों ने और जैनदर्शन ने चिन्तन किया है। भगवान् महावीर ने बतलाया है कि धर्म के रूप में जो प्रेरणाएँ दी जा रही हैं, उन्हें हम बाहर से नहीं डाल रहे हैं। वे तो मनुष्य की अपनी ही विशेषताएँ हैं, अपना ही स्वभाव हैं, निज का ही रूप हैं।

वत्थुसहावो धम्मो।

अर्थात् धर्म आत्मा का ही स्वभाव है।

धर्म-शास्त्र की वाणियाँ मनुष्य की सोई हुई वृत्तियों को जगाती हैं। किसी सोते हुए आदमी को जगाया जाता है, तो वह जगाना बाहर से नहीं डाला जाता है और जागने का भाव पैदा नहीं किया जाता है! इस प्रकार वह जाग भी गया, तो उसकी जागृति क्या खाक काम आएगी? ऐसे जगाने का कोई मूल्य भी नहीं है। शास्त्रीय अथवा दार्शनिक दृष्टि से उस जागने और जगाने का क्या महत्व है? वास्तव में आवाज देने का अर्थ सोई हुई चेतना को उद्बुद्ध कर देना ही है। सुप्त चेतना का उद्बोधन ही जागृति है।

यह जागृति क्या है? कान में डाले गये शब्दों की भांति जागृति भी क्या बाहर से डाली गई है? नहीं। जागृति बाहर से नहीं डाली गई; जागने की वृत्ति तो अन्दर में ही है। जब मनुष्य सोता होता है, तब भी वह छिपे तौर पर उसमें विद्यमान रहती है। स्वप्न में भी मनुष्य के भीतर निरन्तर चेतना दौड़ती रहती है और सूक्ष्म चेतना के रूप में अपना काम करती रहती है। इस

प्रकार जब जागृति सदैव विद्यमान रहती है, तो समझ लेना हो
कि जागने का भाव बाहर से भीतर नहीं डाला गया है। सुषु
ने पर्दे की तरह जागृति को आच्छादित कर लिया था। वह प
हटा कि मनुष्य जाग उठा।

हमारे आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से कहा है कि मनु
अपने-आपमें एक प्रेरणा है। मनुष्य की विशेषताएँ अपने-आप
अपना अस्तित्व रखती हैं। शास्त्र का या उपदेश का सहारा लेव
हम जीवन का सन्देश बाहर से प्राप्त नहीं करते; वरन् वासनाअ
और दुर्बलताओं के कारण हमारी जो चेतना अन्दर छिप गई है
उसी को जागृत करते हैं।

हमारे यहाँ गुरु और शिष्य की बात चली, तो बतलाया गय
है कि गुरु, शिष्य के लिए क्या करता है? एक आचार्य ने कह
है कि गुरु का काम इतना ही है कि वह शिष्य की सोई हुई चेतन
को जगा देता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए वि
शिष्य में चेतना विद्यमान है, इसी कारण तो वह उसे जगा सकत
है। चेतना मूल में ही न होती, तो गुरु किसे जगाता?

चिनगारी मौजूद है, उसमें अग्नि का तत्त्व विद्यमान है, तभ
फूंक मारने से और उस पर घास-फूंस रखने से वह प्रज्ज्वलित
होती है। प्रज्ज्वलित होकर वह दावानल का विराट रूप भी ले
सकती है। अगर चिनगारी में अग्नि-तत्त्व विद्यमान न हो और वह
बुझी हुई हो, तो हजार फूँक मारने पर भी और घास-फूंस डालने
पर भी वह चमकने वाली नहीं है। वह विराट रूप ग्रहण करने
को नहीं है।

कहा गया है कि शिष्य के अन्तरतर में मनुष्यता की चिनगारी
विद्यमान है और यदि उस पर राख आ गई है और उसकी
महत्त्वपूर्ण चमक धुंधली पड़ गई है, तो गुरु के उपदेश की फूँक

लगने पर राख उड़ जाती है और चमक प्रकट हो जाती है। फिर ज्यों-ज्यों साधन मिलते जाते हैं, त्यों-त्यों ही वह विराट रूप लेती जाती है।

इस रूप में भारतीय दर्शन का यही सन्देश है कि मनुष्य की पवित्रता में विश्वास रक्खो। मनुष्य अपने मूल में पवित्र है और इसी कारण उसको जगाने के लिए सन्देश की, प्रेरणा की आवश्यकता है।

आचार्य रामानुज का नाम आपने सुना होगा। उनके पास एक शिष्य आया। उसने कहा—मैं आपके चरणों में दीक्षित होना चाहता हूँ। योग्य समझें तो जगह दें।

आचार्य ने कहा—तुम मेरे शिष्य बनना चाहते हो और साधना के महत्वपूर्ण जीवन में कदम बढ़ाना चाहते हो, तो मैं एक बात पूछता हूँ—तुम्हारा घर में किसी से प्रेम है? माता, पिता, बहिन, भाई वगैरह से स्नेह-संबंध है या नहीं?

शिष्य ने तत्काल उत्तर दिया—मेरा किसी से प्रेम नहीं है। मैंने किसी से प्रेम नहीं किया है। इसीलिए मैं आपके चरणों की शरण ग्रहण करना चाहता हूँ।

शिष्य ने भारत की साधारण जनता की जो भाषा है, उसी का प्रयोग किया।

किन्तु आचार्य ने कहा—तब हमारी और तुम्हारी नहीं पटेगी। जो कुछ तुम्हें पाना है, वह मैं नहीं दे सकूँगा।

शिष्य ने चकित-भाव से प्रश्न किया—क्यों नहीं दे सकेंगे महाराज?

आचार्य—मैं तुम्हें नवीन शिक्षा क्या दूँगा? मुझ में क्या सामर्थ्य है कि मैं कोई अपूर्व चीज तुम्हारे अन्दर पैदा कर दूँ? तुम्हारा प्रेम तुम्हारे परिवार में रहा हो, तुम्हारे जीवन में किसी

अन्य के प्रति मधुर सम्बन्ध रहे हों, तो मैं उन्हें विशाल या विराट बना सकता हूँ। मैं परिवार की संकीर्ण परिधि में घिरे प्रेमभाव को विस्तृत बना सकता हूँ। तुम्हारा प्रेम परिवार में है तो, उसे समाज का रूप, समाज में है, तो राष्ट्र का रूप, राष्ट्र में है, तो उसे विश्व का रूप दिया जा सकता है। मूल में कोई चीज है, तो उसे समृद्ध बनाया जा सकता है। छोटा-सा वट-बीज विशाल वृक्ष का रूप ग्रहण कर सकता है। पर वह बीज होना तो चाहिए। बीज ही न होगा, तो विशाल वृक्ष कैसे बनेगा ? तुमने किसी से प्रेम ही नहीं किया, तुम्हारा जीवन अभी तक किसी का सहायक ही नहीं बना, तो आचार्य के पास कोई ऐसी विधि नहीं है कि वह कोई अपूर्व चीज तुम्हारे भीतर डाल सके। भाई, बीज के बिना वृक्ष उगा देने की शक्ति मुझ में नहीं है।

जो बात आचार्य के संबंध में है, वही धर्म के संबंध में है। मनुष्य के जीवन-मूल में जो वृत्तियाँ विद्यमान हैं, प्रेम की, स्नेह की, पारस्परिक सहायता की, एक-दूसरे के आँसू पोंछने की, उन्हीं को विराट रूप देना धर्म का काम है, और कुछ भी नहीं।

एक आदमी सुनार के पास जाता है, सैकड़ों चक्कर काटता है और गहने घड़ाने की बात कहता है। किन्तु उसके पास यदि सोना नहीं है, तो क्या सुनार उसे गहने घड़कर दे देगा ? सोने के अभाव में सुनार शून्य से गहने नहीं बना दे सकता। हाँ, गहनों का मूलरूप सोना यदि आपके पास है, तो फिर आप किसी भी सुनार के पास चले जाइए। वह मनचाहा गहना बनाकर आपको दे देगा।

इसी प्रकार यदि आपके जीवन के मूल में मानवता है, इंसानियत है, प्रेम की वृत्ति है, सहानुभूति और समवेदना का भाव है, तो वह धर्म के द्वारा विकसित हो सकता है। आपकी

मानवता ही जैनधर्म या किसी अन्य धर्म का रूप ग्रहण कर सकती है। अगर मानवता ही नहीं है किसी के पास, तो कौन धर्म है, जो उसको धार्मिकता का रूप दे सकेगा? बस, इसी मानवता के कारण मानव-जीवन की महत्ता है। इसी कारण इस जीवन को महत्त्व दिया गया है। सन्त तुलसीदास ने कहा है:—

बड़े भाग मानुस-तन पावा,
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा।

बड़ा भाग्य होता है, तब कहीं मनुष्य का जन्म मिलता है।

मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है? क्या इस सप्त धातुओं के बने शरीर के कारण? इन्द्रियों के कारण? मिट्टी के इस ढेर के कारण? नहीं, मनुष्य का शरीर तो हमें कितनी ही बार मिल चुका है और इससे भी सुन्दर मिल चुका है; किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर भी मनुष्य का जीवन नहीं पाया। और जिसने मानव-तन के साथ मानव-जीवन भी पाया, वह कृतार्थ हो गया।

हम पहली ही बार मनुष्य बने हैं, यह कल्पना करना दार्शनिक दृष्टि से भयंकर भूल है। इससे बढ़कर और कोई भूल नहीं हो सकती। जैन-धर्म ने कहा है कि आत्मा अनन्त-अनन्त बार मनुष्य बन चुका है और इससे भी अधिक सुन्दर तन पा चुका है; मगर मनुष्य का तन पा लेने से ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक आत्मा नहीं जागती, तब तक मनुष्य-शरीर पा लेने का भी कोई मूल्य नहीं है।

यदि मनुष्य के ढंग में तुमने आचरण नहीं किया; मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह चीज नहीं पैदा हुई; तो यह शरीर तो मिट्टी का पुतला ही है! कितनी ही बार लिया गया है और छोड़ा गया है!

इतिहास के पन्ने पलटिये। राम मनुष्य के रूप में थे, तो रावण भी मनुष्य के ही रूप में था। फिर एक के प्रति पूजा का भाव और दूसरे के प्रति घृणा का भाव क्यों है ? शरीर के नाते तो दोनों समान थे और दोनों की समान रूप से पूजा होनी चाहिए; दोनों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। फिर भी दोनों में जो महान् अन्तर है, वह उनके जीवन का अन्तर है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है :—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

—उत्तराध्ययन ३।१

मनुष्य होना उतनी बड़ी चीज नहीं, बड़ी चीज है, मनुष्यता का होना। मनुष्य होकर जो मनुष्यता प्राप्त करते हैं, उन्हीं का जीवन वरदान-रूप है। केवल नर का आकार तो बंदरों को भी प्राप्त होता है।

हमारे यहाँ एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारक श्रावक को भी द्विज कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी द्विज कहते हैं। पक्षी पहले अंडे के रूप में जन्म लेता है। अंडा प्रायः लुढ़कने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। जब वह नष्ट न हुआ हो और सुरक्षित बना हुआ हो, तब भी वह उड़ नहीं सकता। पक्षी को उड़ाने की कला का विकास उसमें नहीं हुआ है। किन्तु, भाग्य से अंडा सुरक्षित बना रहता है और अपना समय तय कर लेता है, तब अण्डे का खोल टूटता है और उसे तोड़ कर पक्षी बाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अंडे के रूप में होता है, और दूसरा जन्म खोल तोड़ने के बाद पक्षी के रूप में होता है। पक्षी अपने पहले जन्म में कोई

काम नहीं कर सकता—अपने जीवन की ऊँची उड़ान नहीं भर सकता। वह दूसरा जीवन प्राप्त करने के पश्चात् लम्बी और ऊँची उड़ान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन संस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी बदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात् वह राम बनेगा या रावण; उस चोले में शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा देवता—यह नहीं कहा जा सकता। उसका वह रूप साधारण है, दोनों के जन्म की संभावनाएँ उसमें निहित हैं। आगे चल कर जब वह विशिष्ट संज्ञा प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र में आता है, और अपने जीवन का स्वयं निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की वृत्तियों को जगाता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है।

जब मनुष्यता जाग उठती है, तो ऊँचे कर्तव्यों का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उड़ान लेता है। ऐसा 'मनुष्य' जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र में जन्म लेता है, वहीं अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्वपूर्ण ऊँचाइयों को प्राप्त करता है।

अगर तुम अपने मनुष्य-जीवन में मनुष्य के मन को जगा लोगे, अपने भीतर मानवीय वृत्तियों को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के सौरभ को संसार में फैलाना शुरू कर दोगे, तब दूसरा जन्म होगा। उस समय तुम मानव द्विज बन सकोगे। यह मनुष्य जीवन का एक महान् सन्देश है।

जब भगवान् महावीर की आत्मा का पावापुरी में निर्वाण हो रहा था और हजारों-लाखों लोग उनके दर्शन के लिए चले आ

रहे थे; तब उन्होंने अपने अन्तिम प्रवचन में एक बड़ा हृदयग्राही, करुणा से परिपूर्ण सन्देश दिया—

माणुस्सं खु सुदुल्लहं।

निस्संदेह, मनुष्य-जीवन बड़ा ही दुर्लभ है।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर लिए हुए तो लाखों की संख्या सामने है; सब अपने को मनुष्य समझ रहे हैं, मगर केवल मनुष्य-तन पा लेना ही मनुष्य-जीवन पा लेना नहीं है; वास्तविक मनुष्यता पा लेने पर ही कोई मनुष्य कहला सकता है।

यह जीवन की कला इतनी महत्वपूर्ण है कि सारा का सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति में लग जाता है। क्षुद्र जीवन ज्यों-ज्यों विशाल और विराट बनता जाता है और उसमें सत्य, अहिंसा और दया का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों सोया हुआ मनुष्य का भाव जागृत होता जाता है। अतएव शास्त्रीय शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्य का भाव आना ही मनुष्य होना कहलाता है।

मनुष्य जीवन में प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चार बातें भगवान् महावीर ने बतलाई हैं। उनमें 'प्रकृतिभद्रता, सर्वप्रथम आती है। मनुष्य को अपने-आपसे प्रश्न करना चाहिये कि तू प्रकृति से भद्र है अथवा नहीं? तेरे मन में या जीवन में कोई अभद्रता की दीवारें तो नहीं हैं? उसमें तू अपने परिवार को और समाज को स्थान देता है या नहीं? आस-पास के लोगों में समरसता लेकर चलता है या नहीं? ऐसा तो नहीं है कि तू अकेला होता है, तो कुछ और सोचता है, परिवार में रहता है, तो कुछ और ही सोचता है और समाज में जाकर और ही कुछ सोचने लगता है? इस प्रकार अपने अन्तर को तूने बहुरूपिया तो नहीं बना रक्खा है?

स्मरण रक्खो, जहाँ जीवन में एकरूपता नहीं है, वहाँ जीवन का विकास भी नहीं है। मैं समझता हूँ, अगर आप गृहस्थ हैं, तब भी आपको इस कला की बहुत बड़ी आवश्यकता है, और यदि साधु बने हैं, तो उससे भी बड़ी आवश्यकता है। जिसे छोटा-सा परिवार मिला है उसे भी आवश्यकता है और जो ऊँचा अधिकारी बना है, और जिसके कन्धों पर समाज एवं देश का उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसको भी इस कला की आवश्यकता है। जीवन में एक ऐसा सहज-भाव उत्पन्न हो जाना चाहिये कि मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में हो, एकरूप होकर रहे। यही एकरूपता, भद्रता या सरलता कहलाती है और यह जीवन के हर पहलू में रहनी चाहिए। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य सुनसान जंगल में जिस भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर रहा है, उसी भाव से वह नगर में भी करे और जिस भाव से दूसरों के सामने कर रहा है, उसी भाव से एकान्त में भी करे।

किन्तु दुर्भाग्यवश, आज हम निराला ही ढंग देख रहे हैं। मनुष्य जो काम कर रहा है, उसकी निगरानी उसके ऊपर के अधिकारी द्वारा होती है; उसकी निगरानी उससे भी ऊँचे अधिकारी द्वारा की जाती है और उसकी भी निगरानी के लिए और ऊँचा अधिकारी नियुक्त है! और ऐसा करना आज समाज की आम नीति बन गई है और इसमें कोई बुराई नहीं समझी जा रही है। परन्तु, आखिरकार इस निगरानी की कहीं समाप्ति भी है या नहीं? क्यों लोगों की समझ में नहीं आता कि यह परम्परा मनुष्यता के लिए घोर कलंक की निशानी है? अविश्वास की इस परम्परा का स्रोत कहाँ है?

उत्तर है—मनुष्य-जीवन में एकरूपता के अभाव ने इस परम्परा को जन्म दिया है और जब तक प्रत्येक मनुष्य में अपने कर्तव्य

के प्रति प्रामाणिक वफादारी का भाव उदित नहीं हो जाता, तब तक वह जीवित ही रहने वाली है।

मनुष्य ने जिस कर्तव्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया है, उसे वह नहीं कर रहा है। और जब नहीं कर रहा है, तो उसके मन में भय है कि कोई अधिकारी देख न ले, अन्यथा मेरी आजीविका को ठेस पहुँचेगी। इस भय से वह काम करने लगता है। इसका अर्थ यह है कि लोग जीवन से समझौता नहीं कर रहे हैं, आँखों से समझौता कर रहे हैं। क्या इस ढंग से जीवन में समरसता आ सकती है? और जीवन का रस क्या जीवन में पैदा हो सकता है? नहीं!

प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य, कर्तव्यभाव से, स्वतः ही पूर्ण करना चाहिये। किसी की आँखें हमारी ओर घूर रही हैं या नहीं, यह देखने की उसे आवश्यकता ही क्या है?

भगवान् महावीर का पवित्र सन्देश है कि मनुष्य अपने-आपमें सरल बन जाय और द्वैत-बुद्धि—मन, वचन, काया की वक्रता—नहीं रक्खे। हर प्रसंग पर दूसरों की आँखों से अपने कर्तव्य को नापने की कोशिश न करे। जो इस ढंग से काम नहीं कर रहा है और केवल भय से प्रेरित होकर हाथ-पाँव हिला रहा है, वह आतंक में काम कर रहा है। ऐसे काम करने वाले के कार्य में सुन्दरता नहीं पैदा हो सकती, महत्वपूर्ण प्रेरणा नहीं जाग सकती।

मनुष्य जहाँ कहीं भी हो और जो भी कार्य करे, ऊपर की निगरानी की अपेक्षा न रक्खे। निगरानी अपने-आपमें होनी चाहिये। मनुष्य स्वयं अपनी निगरानी करे, स्वयं अपने ऊपर हुकूमत करे और शासन करे। इस तरीके से जो काम करेगा, वह परिवार में होगा, तो वहाँ से भी सुन्दर आदमी होकर निकलेगा और

यदि समाज देश या राजा का आदमी है, तो वहाँ से भी सुन्दरता लेकर निकलेगा। यह मनुष्यता का महत्वपूर्ण सन्देश है।

इस भावना से काम करने वाले में जीवन का बहुरूपियापन समाप्त हो जायगा। एक जगह आदमी बड़ा ही नम्र और सुशील रहता है, केवल दबाव के कारण। और ज्यों ही दबाव हट जाता है, तो दूसरों के साथ उसका बर्ताव क्रूरतापूर्ण होने लगता है, उसकी नम्रता और सुशीलता केवल दबाव के कारण चल रही थी, किन्तु दबाव के हटते ही वहाँ उच्छृंखलता आ जाती है।

कोई दब्बू होता है, कोई जाहिल। दोनों में क्या अन्तर है? एक आदमी अपनी किसी कमजोरी के कारण दब रहा है, इसका अर्थ है कि उसे कोई जाहिल मिला है। जाहिल से पाला पड़ने पर आदमी में दब्बूपन आ जाता है और जब उससे भी छोटे आदमी के साथ उसका वास्ता पड़ता है, तो वह दब्बू जाहिल बन जाता है।

इस प्रकार दब्बूपन और जाहिलपन, हमारे जीवन के अंग बने हुए हैं। यह जीवन के अंग बने हैं, इसी से हम जीवन में भटक रहे हैं और जीवन में एकरूपता नहीं आने दे रहे हैं। अतएव जिस जीवन में, सहजभाव से, एकरूपता लानी है, वह चाहे देश के इस कोने में रहे या उस कोने में, उसका व्यवहार एकरूप ही होगा। भारत ने एक दिन कहा था—

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

—ऋग्वेद

सारा भूमण्डल तेरा देश है और सारा देश एक घोंसला है और हम सब उसमें पक्षी के रूप में बैठे हैं। फिर कौन भूमि है, कि जहाँ हम न जाएँ? समस्त भूमण्डल मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कहीं भी जाए या रहे, एकरूप होकर रहे। उसके लिए कोई पराया न हो। जो इस प्रकार की भावना को

अपने जीवन में स्थान देगा, वह अपने जीवन-पुष्प को सौरभमय बनाएगा। गुलाब का फूल टहनी पर है, तब भी महकता है और टूटकर अन्यत्र जायगा, तब भी महकता रहेगा। महक ही उसका जीवन है, प्राण है।

सहजभाव से अपने कर्तव्य को निभाने वाला मनुष्य सिर्फ अपने-आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरों की ओर नहीं जाती। कौन व्यक्ति मेरे सामने है, अथवा किस समाज के भीतर मैं हूँ, यह देखकर वह काम नहीं करता। सूने पहाड़ में जब वनगुलाब खिलता है, महकता है, तो क्या उसकी खिलावट को देखने वाला और महक को सूंघने वाला आसपास में कोई होता है? परन्तु गुलाब को परवाह नहीं कि कोई उसे दाद देने वाला है या नहीं, भ्रमर हैं या नहीं। गुलाब जब विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है, तो अपने-आप खिल उठता है। उससे कोई पूछे—तुम्हारा उपयोग करने वाला यहाँ कोई नहीं है। फिर क्यों वृथा खिल रहे हो? क्यों अपनी महक लुटा रहे हो? गुलाब जबाव देगा—कोई है या नहीं, इसकी मुझको चिन्ता नहीं। मेरे भीतर उल्लास आ गया है, विकास आ गया है और मैंने महकना शुरू कर दिया है। यह मेरे बस की बात नहीं है। इसके बिना मेरे जीवन की और कोई गति ही नहीं है। यही तो मेरा जीवन है।

बस, यही भाव मनुष्य में जागृत होना चाहिए। वह सहज-भाव से अपना कर्तव्य अदा करे और इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझे।

इसके विपरीत, जब मनुष्य स्वतः समुद्भूत उल्लास के भाव से अनेक कर्तव्य और दायित्व को नहीं निभाता, तो चारों ओर से उसे दबाया और कुचला जाता है। इस प्रकार एक तरह की गंदगी और बदबू फैलती है। आज दुर्भाग्य से समाज और देश

में सर्वत्र गन्दगी और बदबू ही नजर आ रही है और इसीलिए जीवन अत्यन्त पामर बना हुआ है।

भारतीय दर्शन, जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि तू अन्दर से क्या है? तुझे अन्तरतर में विराजमान महाप्रभु के प्रति सच्चा होना चाहिए। वहाँ सच्चा है, तो संसार के प्रति भी सच्चा है और वहाँ सच्चा नहीं, तो संसार के प्रति भी सच्चा नहीं है। अन्तःप्रेरणा और स्फूर्ति से, बिना दबाव के भय से, जब अपना कर्तव्य निभाया जायगा, तो जीवन एकरूप होकर कल्याणमय बन जायगा।

दूसरी बात है—मनुष्य के हृदय में दया और करुणा की लहर पैदा होना। हमारे भीतर, हृदय के रूप में, मांस का एक टुकड़ा है। निस्सन्देह, वह मांस का टुकड़ा ही है और मांस के पिंड के रूप में ही हरकत कर रहा है। हमें जिन्दा रखने के लिये सांस पर सांस छोड़ रहा है और ले रहा है। पर उस हृदय का मूल्य-अपने आप में कुछ नहीं। उसमें अगर महान् करुणा की लहर नहीं पैदा होती, तो उस मांस के टुकड़े की कोई कीमत नहीं है।

कल के अखबार में पढ़ा—आसाम में जब उपद्रव हुआ, प्रकृति के भयंकर प्रकोप के कारण भूकम्प आ गया और सृष्टि के टुकड़े-टुकड़े हो गए, हजारों-लाखों लोग मौत के मुँह में पड़ गए और सर्वनाश का दिल दहलाने वाला दृश्य उपस्थित हो गया, तब भी सैंकड़ों लोग छीना-झपटी कर रहे थे! यह क्या चीज है?

दिल्ली के सदर बाजार में आग लग रही है, संहार हो रहा है, देश की सम्पत्ति भस्म हो रही है और महलों के सोने वाले सड़कों पर आश्रय ले रहे हैं और दूसरी तरफ लोग आग बुझाने की आड़ में दुकानों के ताले तोड़-तोड़ कर माल उठाकर

ले जा रहे हैं। स्वतन्त्र देश के नागरिकों की यह दशा! इतना अधःपतन! जो देश लाखों वर्षों से सोये जीवन को जगाने की प्रेरणा देता रहा है, जहाँ बुद्ध और महावीर आये, राम-कृष्ण आये और संसार के महान् से महान् पुरुष आये! जिस देश को उनकी वाणी श्रवण करने का सौभाग्य मिला, उसी देश के नागरिकों की यह शोचनीय दशा! कहाँ तो महापुरुषों का यह सन्देश कि—'सारा संसार तू ही है और तेरा अलग अस्तित्व नहीं है' और कहाँ यह प्रवृत्ति! समस्त महापुरुषों ने एक स्वर से लोगों को इतनी बड़ी भावना दी, और संसार को सुख-शान्ति पहुँचाने की बात कही! फिर भी लोग दूसरों के मांस के टुकड़े काट-काट कर भागे जा रहे हैं।

तो, जब हमारे जीवन में समग्र विश्व के प्रति दया और करुणा का भाव जागृत होगा, तभी प्रकृति-भद्रता उत्पन्न हो सकेगी। तभी हमारा जीवन भगवत्स्वरूप होगा।

इस प्रकार सारे समाज के प्रति कर्तव्य की बुद्धि उत्पन्न हो जाना, विश्व-चेतना का विकास हो जाना है और उसी को जैन-धर्म ने भागवतरूप दिया है। यही मानव-धर्म है।

तो, धर्म का मूल इन्सानियत है, मानवता है और मानव की मानवता ज्यों-ज्यों विराट रूप ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों इसका धर्म भी विराट बनता चला जाता है। इस विराटता में जैन, वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, सिख और ईसाई आदि का कोई भेद नहीं रहता, सब एकाकार हो जाते हैं। यही सत्य का स्वरूप है, प्राण है और इस विराट चेतना में ही सत्य की उपलब्धि होती है।

साधना का मूल स्रोत

मनुष्य के जीवन में सत्य का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह हमारे लिए एक विचारणीय चीज है। यों तो प्रत्येक आत्मा अनन्त गुणों का भंडार है और अच्छे से अच्छे अनन्त गुण आत्मा में रहे हुए हैं। हम अपना जीवन, साधना के द्वारा अनन्त गुण वाला बना सकते हैं। जैनधर्म ने आत्मा को परमात्मा बन सकने की सर्वोपरि महत्वपूर्ण प्रेरणा दी है। किन्तु प्रत्येक गुण जब अनन्त रूप धारण करता है, तभी आत्मा, परमात्मा की उत्कृष्ट भूमिका में प्रवेश करती है।

तो, क्या यह संभव है कि आत्मा के अनन्त गुणों में से एक गुण तो अनन्त-रूप बन जाय और दूसरे न बनें? केवलज्ञान और केवलदर्शन अनन्त हैं और चारित्र भी अनन्त है, शक्ति भी अनन्त है। इस रूप में हम अनन्त-चतुष्टय को पहचानते हैं। मगर प्रश्न यह है कि आत्मा जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तो उसमें क्या अनन्त-चतुष्टय ही रहता है? और दूसरे गुण अनन्त नहीं रहते हैं? अथवा ऐसा है कि जब तक सभी गुण अनन्त न बन जाएँ, तब तक मोक्ष-दशा प्राप्त हो ही नहीं सकती? अनन्त गुणों की अनन्तता के विना परमात्म-पद प्राप्त हो ही नहीं सकता?

हमारे जीवन की दौड़, क्षुद्र और गिरे हुए जीवन से उस विशाल और अनन्त जीवन की ओर है, जहाँ कि प्रत्येक गुण अनन्त हो जाता है और आगे विकास के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। एक कवि ने कहा है :—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्ति-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं।
—जयशंकर प्रसाद

जिस मार्ग पर हम चल रहे हैं और जिस मार्ग पर हमारी साधना चल रही है, उसके बीच में ही हमें नहीं रुक जाना है, अपनी साधना को बीच में ही नहीं समाप्त कर देना है। हमें अन्तिम स्थिति पर पहुँचना है, उस स्थिति पर कि जहाँ आगे राह नहीं है; जब राह ही नहीं है, तो आगे कैसे चला जाय ? विकास की पराकाष्ठा के आगे कोई राह नहीं हो सकती। इस प्रकार विकास की चरम सीमा जब प्राप्त हो जाती है, पूर्णता के प्रांगण में जीव पहुँच जाता है, तभी वह 'मुक्त' कहलाता है।

अब हमारे सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित है कि आत्मा का प्रत्येक गुण किस प्रकार अनन्त बनाया जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकारों ने कहा है कि अहिंसा और सत्य की साधना के द्वारा आत्मा के सभी गुण अनन्त बनाये जा सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक गुण को अनन्त-रूप प्रदान करने के लिए अलग-अलग साधना की जाय, अलग-अलग दौड़ लगाई जाय। आत्मा के गुण अनन्त हैं और प्राथमिक स्थिति में उन सब का हमें पता भी नहीं होता। जब पता ही नहीं होता, तो उनको विकसित कैसे किया जा सकता है ? किन्तु जिन गुणों की हमें जानकारी है और जिनसे हमें अपने जीवन में प्रकाश मिल रहा है, उनको ही लेकर हम अपनी साधना शुरू कर देंगे, तो एक दिन ऐसा होगा कि वे गुण अनन्त बन जाएँगे और साथ ही दूसरे गुण भी अनन्त बन जाएँगे।

इस दृष्टिकोण से सत्य को देखें, तो पता चलेगा कि हमारे साधना-जीवन में उसका कितना महत्वपूर्ण स्थान है ? अगर हम सत्य को पूर्णता प्रदान कर सकें, तो समग्र जीवन को ही पूर्णता प्रदान कर सकते हैं।

आचार्यों ने कहा है—एक मनुष्य कितना ही सुन्दर है, सुडौल है और रंग-रूप में अच्छा है, किन्तु उसके चेहरे पर नाक नहीं है। तो क्या वह सुन्दर समझा जायगा ? नहीं, नाक नहीं है, तो उसके रूप-रंग का कोई महत्व नहीं है। नाक की नियत जगह पर दृष्टि पड़ते ही सारी घृणा बरसने लगती है। एकमात्र नाक के न रहने के कारण ही कोई बखान करने लायक चीज नहीं रह जाती है।

इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में चाहे कितने ही गुण भरे हुए हों, यदि सत्य का गुण नहीं है, जो कि सारे सौन्दर्य को जगमगाने के लिए सामर्थ्य रखता है, तो वह जीवन विना नाक का शरीर है। सत्य के अभाव में जीवन का सौन्दर्य खिल ही नहीं सकता।

एक श्रावक कठोर साधना में से अपना जीवन गुजार रहा है और सामायिक, संवर, पौषध और तपस्या भी करता है; किन्तु उसके जीवन-व्यवहार को मालूम करें और पता लगे कि वह कदम-कदम पर झूठ बोलता है, उसमें प्रामाणिकता नहीं है, वह अपने कर्तव्य के प्रति भी उत्तरदायित्व नहीं निभाता है और वहाँ भी छल-कपट से काम लेता है; तो श्रावकपन की भूमिका के उच्च होने पर भी आप उस श्रावक की निन्दा ही करते हैं। इसी प्रकार जिस समाज में ऐसा विडम्बनामय जीवन होता है, उसका भी उपहास होता है। एक-एक व्यक्ति का जीवन ही समाज का जीवन कहलाता है और जनता व्यक्तियों के जीवन की तराजू पर ही समाज के जीवन को तोलती है।

तो, जो व्यक्ति दुकान पर बैठ कर भी प्रामाणिक नहीं है, इधर-उधर के अन्य कार्यों में भी प्रामाणिक नहीं है, उसके सम्बन्ध में आप विचार करेंगे कि उसकी सामायिक और पौषध आदि साधनाएँ व्यर्थ हैं; क्योंकि उसने जीवन का वह सत्य प्राप्त नहीं किया है, जिसके द्वारा जीवन का अंग-अंग चमकने लगता है।

आपके जीवन में कोई कला नजर नहीं आती है, तो इस पर आप भले ही विचार न करें, किन्तु समाज की और दुनिया की आँखें खुली हैं और वे आपके कदम-कदम को नाप रही हैं। आपकी अप्रमाणिकता आपको, समाज को और धर्म को बदनाम करेगी और तीर्थंकरों को भी बदनाम किये विना नहीं रहेगी।

इस रूप में सोचते हैं, तो मालूम होता है कि सत्य के अभाव में जीवन का क्या मूल्य है ?

उस चीज को हम अपने सम्बन्ध में भी कहते हैं। कोई आपके लिए ही मोक्ष का दरवाजा नहीं खोलना है। हम साधु भी उसी पथ के पथिक हैं। आखिरकार, हमारा जो साधुवर्ग है, उसमें कितना ही क्रियाकाण्ड क्यों न हो और कितना ही घोर तपश्चरण हो, बाह्य जीवन में शरीर चाहे तपस्या से गल-गल कर सूख गया हो; किन्तु यदि उसमें सत्य नहीं है सिर्फ बोलने का सत्य नहीं, वरन् किये जाने वाले कर्तव्य के प्रति वफादारी नहीं आई, तो भले ही कोई महीने-महीने का तप करे, वफादारी और ईमानदारी के अभाव में जिस महासाधना के लिए तपश्चरण किया जा रहा है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। वह तपश्चरण उसके जीवन को ऊँचा नहीं उठा सकता, गला दे सकता है।

एक आदमी इतना बीमार और कमजोर है कि उसे मूँग की दाल का पानी भी हजम नहीं होता। ऐसी स्थिति में उसे यदि कुश्ता खिलाया जाय या अन्य पौष्टिक पदार्थ खिलाये जाएँ, तो

वे पदार्थ उसके जीवन को बनाने के बदले गलाएँगे, समर्थ नहीं बनाएँगे। अशक्त आदमी कल मरता होगा, तो पौष्टिक पदार्थ खाकर आज ही मर जाएगा।

इसी प्रकार जो साधु, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को भी नहीं निभा सकता है और जीवन के छोटे-छोटे व्यवहारों में भी ठीक नहीं रह रहा है, और खाने-पीने की चीजों में भी प्रमाणिकता नहीं बरत रहा है और चलता है, तो दूसरे के जीवन में अंधकार की चादर डाल रहा है, तो उसकी लम्बी साधनाएँ और तपश्चर्याएँ उसके जीवन का महत्व नहीं बढ़ाएँगी। जो ज्यादा ढोंग करते हैं, बनावट करते हैं और फूँक-फूँक कर कदम रखते हैं और जिनमें आप जरूरत से ज्यादा विवेक देखते हैं, उनके सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा जाता है कि उनके जीवन के अन्दर काँटे हैं, सरलता नहीं है। जीवन में जो सहज और सरल व्यवहार होना चाहिए, वह नहीं है। एक आचार्य ने कहा है:—

असती भवति सलज्जा, क्षारं नीरं च शीतलं भवति।
दम्भी भवति विवेकी, प्रियवक्ता भवति धूर्त्त जनः।

बड़ी कठोर बात है! और ऐसी बात है कि भले ही आपके दिल में न चुभे, किन्तु हमारे दिल में तो चुभ जाती है। बहिनें अपने जीवन में पर्दा लेकर चलती हैं। उनको अपने परिवार में या बाहर अपने शील-सौजन्य को बरकरार रखना है और समाज की कल्पित सीमाओं से बाहर नहीं जाना है। मगर जब जीवन के भीतर का लज्जा का पर्दा हट जाता है, तब भी बाहर का पर्दा तो चलता ही रहता है; बल्कि दूसरों की अपेक्षा कुछ और ज्यादा चलने लगता है। ऐसी बहिनें अधिक बनावा करती हैं और क्या आश्चर्य जो सीता की बराबरी का भी दावा न करें? उनके जीवन को दूसरों के जीवन के साथ तुलना करते समय हमें

ध्यान रखना है कि खारा पानी, मीठे पानी की अपेक्षा अधिक शीतल होता है। मगर उसकी शीतलता की क्या सार्थकता है? वह किसी की प्यास बुझाने और दूसरों को सन्तोष देने के काम नहीं आ सकता, तो उसकी शीतलता का क्या बनाया जाय?

इसी प्रकार जो मनुष्य ज्यादा दंभी होता है, वह बहुत ज्यादा विवेक दिखलाता है। कभी-कभी इस दंभ का रूप इतना विचित्र होता है कि कुछ पूछिए मत। बहुत पहले एक मुनि के सम्बन्ध में मालूम हुआ था। उन्हें कुछ लिखना था और कागज तथा पैंसिल सामने पड़े थे। दिन का समय था और सूर्य का प्रकाश चमक रहा था। फिर भी वे पैंसिल उठाएँगे तो पूंजनी से पूंजकर उठाएँगे और कागज लेंगे तो विना पूंजे न लेंगे। बेचारे श्रावक पूछते हैं कि इस पैंसिल को पूंजने की क्या आवश्यकता है? तो उत्तर मिलता है—'जैन मारग घणो झीणो है, साधु को विना पूंजे कोई चीज काम में नहीं लेनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने तो कहा है कि पहले प्रतिलेखना है और फिर प्रमार्जना है। पहले भली भाँति देखना चाहिए और देखने के बाद उसमें कोई जीव-जन्तु हो, तो उसे पूंजना चाहिए। जब देखने के लिए आँखें हैं, तो अनावश्यक रूप से, दिन-भर ओघा घिसते रहने का क्या अर्थ है? पैंसिल को पूंजने के लिए पूंजनी उठाई है, तो पूंजनी को आखिर किससे पूंजोगे? उसको विना पूंजे कैसे उठा लोगे?

ऐसी बातें, ऊपर-ऊपर से भले अच्छी मालूम होती हों, मगर कभी-कभी यह मनुष्य को छलने का काम करती है। देखने वाला अटपटा जाता है कि यह क्या हो रहा है?

अभिप्राय यह है कि दंभी अनावश्यक विवेक दिखलाता है और जब वह अनावश्यक विवेक दिखलाता है, तो देखने वाले

और सुनने वाले समझ जाते हैं कि यहाँ जीवन में दंभ चल रहा है। अतएव मैं कहता हूँ कि हमारे आध्यात्मिक जीवन में सरलता, सहजता, उच्चश्रेणी का ज्ञान और प्रामाणिकता होनी चाहिए। हम अपने जीवन के प्रति ईमानदार बन जाएँ और अपनी साधना के प्रति स्वयं वफादार बन जायँ। जब तक वफादारी नहीं आती और यह सब खटराग चल रहे हैं, तब तक जीवन के विकास का संभावना नहीं की जा सकती। साधारण तपस्या की बात जाने दीजिए, भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि जो साधक अज्ञान में है, जिसे जीवन का सत्य नहीं मिला है, सत्य दृष्टिकोण नहीं मिला है और सचाई के ऊपर जिसकी दृष्टि केन्द्रित नहीं हुई है, वह घोरतर तपश्चरण करके भी जीवन-विकास की पहली भूमिका नहीं पा सकता।

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

—*उत्तराध्ययन, ६*

ऐसा अज्ञान व्यक्ति यदि महीने-महीने की तपस्या करे और तपस्या के बाद, पारणे के दिन, केवल तिनके की नोक के बराबर अन्न-जल ग्रहण करे और फिर तपस्या चालू कर दे; इस प्रकार अपने शरीर को सुखा कर करोड़ों वर्ष भी क्यों न गुजार दे, फिर भी वह सत्य-धर्म का या जीवन के सत्य का जो मार्ग है, उसमें से सोलहवाँ अंश भी नहीं पा सकता।

अतएव इस प्रकार की तपस्या और साधना के मूल में सत्य दृष्टिकोण होना चाहिए। कल बतलाया गया था कि प्रकृति की भद्रता होनी चाहिए। उसका अर्थ है कि हमारी साधना को सहज-रूप ग्रहण करना चाहिए। यदि हम अकेले बैठे हैं, कोई आँखें देखने वाली नहीं हैं, तो भी हमारा जीवन उसी लकीर पर चलना

चाहिए। ऊपर से नियंत्रण लादा जा रहा हो, तब भी और न लादा जा रहा हो, तब भी, हमारा जीवन एकरूप होना चाहिए। इस प्रकार तुम चाहे गृहस्थ-जीवन की साधना करो या साधु-जीवन की; परन्तु सावधानी से चलो और उस प्रभु के प्रति वफ़ादार होकर चलो।

कभी-कभी विचित्र संयोग मिलते हैं। कोई सन्त मिले और उन्होंने अपने शिष्य से कहा—अरे, पाना परठने को जाते हो, तो देखना, जहाँ सागारी न हो वहाँ परठना। जब मैं ऐसी बात सुनता हूँ, तो मुझसे नहीं रहा जाता और मैं कहता हूँ—यह कैसा धर्म है, जो सागारी की विद्यमानता और अविद्यमानता में अलग-अलग रूप धारण करता है ? विवेकपूर्वक परठने की शिक्षा मिलना तो योग्य ही है, परन्तु सागारी के देख लेने या न देख लेने की शिक्षा का क्या अभिप्राय है ? अमुक आदमी कहीं देख न ले, इस प्रकार की भावना का होना जीवन का छोटा स्तर है, उसमें दंभ की गंध है और उसमें साधुत्व या श्रावकत्व पनप नहीं सकता।

गृहस्थ के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसका जीवन भी अगर विरूप है, जनता के सामने एक प्रकार का और अकेले में दूसरे प्रकार का है, तो उसका भी जीवन-निर्माण होने वाला नहीं है। उसे भी जीवन का सत्य नहीं उपलब्ध हुआ है और उसके अभाव में उसकी कोई भी साधना कारगर नहीं हो सकती।

एक आदमी पैसे से तंग है। तन ढाँपने को वस्त्र और पेट भरने को अन्न उसे नसीब नहीं हो रहा है। वह दूसरे के सामने अपना दुखड़ा रोता है। दूसरा उसे कहता है—तुम्हारे पास दो हाथ हैं, दो पैर हैं, फिर क्यों मुसीबत उठाते हो ? अड़ौस-पड़ौस में बहुत से मालदार रहते हैं। किसी रात को मौका देखकर हाथ मारो—चोरी करो और मौज से रहो।

वह कहता है—यह काम कर तो लूँ, मगर डरता हूँ। पकड़ा गया, तो सजा मिलेगी, जेलखाना देखना पड़ेगा।

जब उसका यह उत्तर होता है, तो आप सोच सकते हैं कि वह देश का सच्चा नागरिक नहीं है और उसके अंदर धर्म की रोशनी नहीं आई है। वह नागरिक-धर्म की प्रेरणा से चोरी करने से नहीं रुक रहा है, बल्कि दंड की भीति और कारावास के कष्टों के कारण ही रुक रहा है। यह नीची और जघन्य वृत्ति है। इसी प्रकार जो साधक साधना तो कर रहा है, किन्तु अन्तःप्रेरणा से नहीं, जनता के भय से या बदनामी के डर से कर रहा है, उसकी साधना का कोई मूल्य नहीं है।

दूसरे आदमी को लीजिए। उससे कोई कहता है—ऐसा क्यों नहीं कर लेते ? वह कहता है—'क्या करूँ, कर तो लूँ, किन्तु बिरादरी में बदनाम हो जाऊँगा। बिरादरी वाले क्या कहेंगे ?'

पहले आदमी की अपेक्षा इसमें कुछ विकास हो सकता है, परन्तु बिरादरी की भी क्या बात है ? जो कुछ करना है, वह यदि योग्य और उचित है और आत्मा उसके लिए साक्षी देती है, तो बिरादरी का डर क्यों है ? और यदि वह अनुचित और अयोग्य है और अन्तःकरण उसके लिए तैयार नहीं है, तो भी बिरादरी का भय क्यों ? आत्म-प्रेरणा से ही उससे अलग क्यों नहीं रहना चाहिए ? समाज के भय से दबा रहना भी कोई अच्छी बात नहीं है। यहाँ भी भगवान् महावीर की वाणी का अमृत नहीं झलकता है। अमृत तो और ही कहीं है।

अब तीसरे आदमी की तरफ मुड़िए। उससे कहा—ऐसा क्यों नहीं कर लेते ? वह उत्तर देता है—कर तो लें, किन्तु नरक का अतिथि बनना पड़ेगा और चिरकाल तक नरक की दुस्सह व्यथाएँ भुगतनी पड़ेंगी।'

हम समझते हैं, पहले और दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा उसके जीवन में कुछ ऊँचाई आ रही है, किन्तु जैनधर्म जिस ऊँचाई की बात कहता है, वह नहीं आई है।

जैनधर्म की दृष्टि और भगवान् महावीर का धर्म इहलोक या परलोक की भीति से किसी कर्तव्य या साधना की प्रेरणा नहीं करता। वह नरक के डर को तुम्हारे मार्ग का रोड़ा नहीं बनाता। वह तो सहज भाव की बात करता है। जीवन में सहजभाव आना चाहिए।

जो मनुष्य केवल नरकगति या तिर्यंचगति के दुःखों से भयभीत होकर अकर्तव्य कर्म नहीं करता है; समझना चाहिए कि वह पाप से नहीं डरता, सिर्फ पाप के फल से डरता है। उसकी दृष्टि में पाप हेय नहीं, पाप का फल ही हेय है। वह पाप को दुःख नहीं मानता, पाप के फल को ही दुःख समझता है। उसे पाप से बचने की चिन्ता नहीं, पाप के फल से ही बचने की चिन्ता है। ऐसे आदमी से कोई कह दे कि दुनिया-भर की चोरी कर, पाप कर, बुराई कर, तुझे नरक में नहीं जाना पड़ेगा और उसकी श्रद्धा इधर-उधर डिग जाय और नरक का भय न रह जाय, तो वह चोरी करने लग जायगा, पाप से परहेज नहीं करेगा और किसी भी बुराई को बुराई नहीं समझेगा। ऐसे आदमी को, जो चोरी को बुरा नहीं समझता और सिर्फ चोरी के फल को ही बुरा समझता है, आप भी विश्वसनीय नहीं समझेंगे।

किन्तु, जैनधर्म की यह ध्वनि नहीं है। जैनधर्म ने पाप के फल को ही दुःख नहीं कहा है, उसका कहना तो यह है कि पाप या बुराई अपने-आप में ही दुःख रूप है। वाचकवर उमास्वाति ने कहा है—

'दुःखमेव वा।'

—तत्त्वार्थसूत्र ७।५

—अर्थात् पाप केवल दुःख-जनक है, ऐसा नहीं, बल्कि वे स्वयं दुःख हैं। —

इस प्रकार जो मनुष्य बुराई को बुराई समझकर चलेगा, इसी भावना से बुराई से बचेगा, उसी का जीवन उच्च स्तर पर पहुँचेगा। इसके विपरीत, जो केवल लोकभय से या नरक के भय बुराई से बच रहा है, उसके अन्तरंग में कालुष्य है। उसका अन्तरंग पाप में प्रवृत्त है; सिर्फ शरीर से वह पाप नहीं करता है। जब वह समझ लेगा कि नरक-स्वर्ग कुछ नहीं हैं, फिर चाहे उसकी समझ गलत ही क्यों न हो; किन्तु वह पाप करने से रुकेगा नहीं। उसके मार्ग में फिर कोई बाधा नहीं रह जाएगी।

यह ठीक है कि पहले और दूसरे मनुष्य की अपेक्षा इस तीसरे आदमी में अधिक रोशनी आई है, किन्तु मानव-जीवन की जो सहज रोशनी जैनधर्म उत्पन्न करना चाहता है, वह नहीं आई है।

भगवान् महावीर से कोई पूछता—आप असत्य का सेवन क्यों नहीं कर रहे हैं? चोरी क्यों नहीं कर रहे हैं? अखण्ड ब्रह्मचर्य क्यों पाल रहे हैं? तो क्या भगवान् यह उत्तर देते कि मैं नरक के डर से पापों का सेवन नहीं करता। पाप करूँगा तो नरक में जाना पड़ेगा, इस भय से मैं पाप करने से रुका हुआ हूँ? नहीं, वे ऐसा न कहते। वे कहते—मैं असत्य का आचरण करूँ कैसे, असत्य का आचरण करने का मेरा मन ही नहीं होता। चोरी करूँ भी तो कैसे करूँ, मेरा मन इधर प्रवृत्त ही नहीं होता।

आप भ० महावीर से कहिए—आप राजकुल में उत्पन्न हुए हैं। संसार-भर का ऐश्वर्य आपके सामने हाथ जोड़ कर खड़ा है। भोग-विलास की समग्र सामग्री आपको सुलभ है। तीर्थंकर

के रूप में जन्म लेने के कारण मुक्ति पर तो आपका अधिकार हो ही चुका है। वह हट नहीं सकती, विना मिले रह नहीं सकती। फिर संसार के यह भोग-विलास भोग क्यों नहीं लेते ?

भगवान् का क्या उत्तर होता ? वे यही कहते—मेरे जीवन में कोई संस्कार ही नहीं रह गया है कि मैं ऐसा करूँ। भोग-विलास की ओर मेरी वृत्ति ही नहीं जाती। ऐसा संकल्प ही नहीं जागता।

यह है उच्चतर जीवन का परम सत्य। कहने को तो मैंने सहजभाव से यह बात कह दी है, किन्तु इसकी उपलब्धि के लिये जब लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, तब पता चलता है। फिर भी प्रत्येक गृहस्थ को इसी स्टेज पर पहुँचना है और वहाँ पहुँचने के लिए इसी पथ पर कदम बढ़ाना है।

आपके मन में यह होना चाहिए कि—'मैं गंदगी में हाथ नहीं डालना चाहता, क्योंकि ऐसा करने से मैं अपवित्र हो जाऊँगा।' इसके विरुद्ध, अगर आप कहते हैं—'मैं गंदगी में हाथ नहीं डालता, क्योंकि ऐसा करने से मेरे माता-पिता नाराज हो जायँगे, मुझे लोग बुरा समझेंगे, तो समझना होगा कि अभी आपमें वह बात पैदा नहीं हुई है।

यह सत्य का वास्तविक स्वरूप है और हमको तथा आपको सहजरूप में उसे अपने जीवन में उतारना है। हमें सहज भाव की प्रवृत्ति में पहुँचना है। हम राजदंड के भय से प्रेरित होकर न चलें, समाज के भय से भी प्रवृत्ति न करें और नरक-निगोद के भय से भी न चलें, बल्कि कर्तव्य की पारमार्थिक भावना से प्रेरणा पाकर चलें, हमारी मनोवृत्ति ही उस रंग में रँग जाय और हम सहज भाव से अकर्तव्य से दूर रहें, तभी समझा जायगा कि हमें तत्त्व की उपलब्धि हुई है, परमार्थ की प्राप्ति हुई है।

आप जानते होंगे कि सात प्रकार के भयों में इहलोकभय और परलोकभय भी बतलाया गया है। जैनधर्म न इहलोक के भय को स्थान देना चाहता है, न परलोक के भय को। एक आचार्य ने कहा है कि जहाँ भय रहेगा, वहाँ सम्यग्दृष्टि भी धुंधली रहेगी। इहलोकभय और परलोकभय भी जीवन को धुंधला बनाते हैं। अतएव हम न इहलोक के भय से और न परलोक के भय से अपने जीवन की यात्रा तय करेंगे। हम जीवन-यात्रा के मार्ग पर निर्भय भाव से, सहजभाव से चलेंगे।

यों करेंगे तो नरक-निगोद में जाएँगे और पशुयोनि में जन्म लेना पड़ेगा, इस प्रकार का भय ही परलोक का भय है। यह भी हमारे लिए त्याज्य बतलाया गया है। हमारी यात्रा परलोक के भय से नहीं होनी चाहिए। एक दार्शनिक कहानी है :—

एक बुढ़िया दार्शनिक विचारों की थी। उसके एक हाथ में पानी का घड़ा था और दूसरे हाथ में जलती हुई मशाल थी। वह इसी प्रकार नाटकीय ढंग करके गलियों में से निकलती। कोई पूछता—यह दोनों चीजें किस लिए ले रक्खी हैं? तो वह उत्तर देती—पानी का घड़ा नरक की आग बुझाने के लिए ले रक्खा है और यह मशाल स्वर्ग को, बहिश्त को आग लगाने के लिए ले रक्खी है।

बुढ़िया का अद्‌भुत उत्तर सुनकर लोगों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—इन दोनों बातों से आपका क्या अभिप्राय है?

बुढ़िया बोली—संसार में जितने भी साधक हैं, किसी के सिर पर नरक का भय सवार है और किसी के दिमाग में स्वर्ग की रंगीली कल्पनाएँ नाच रही हैं। कोई अपने-आप में जीवन निर्माण करने को तैयार नहीं हैं। एक नरक की विभीषिका दिखलाता है, उससे संसार भयभीत हो रहा है और लड़खड़ाता

हुआ चल रहा है। लोग भय की डरावनी परछाईं में अपनी साधना कर रहे हैं। वे नरक से बचने के लिए साधना कर रहे हैं; अपने लिए नहीं कर रहे हैं। इसके विपरीत, कई साधक स्वर्ग के रंगीन जीवन का स्वप्न देख रहे हैं और सैकड़ों-हज़ारों के ऊपर वह रंग चढ़ा हुआ है।

आपको मालूम होगा कि लोग स्वर्ग की बातें करते हैं। कोई पूछता है कि अमुक काम करेंगे, तो क्या होगा ? उत्तरदाता कहता है—इसका यह फल होगा और यह काम करोगे, तो देवलोक में जाओगे।

लोगों ने इस प्रकार देवलोक को नापना शुरू कर दिया है। उसमें जीवन के प्रति कोई वफादारी नहीं है। अतएव वह दार्शनिक बुढ़िया कहती है—संसार के मन में नरक का डर है, तो मैं उसे भी मिटा देना चाहती हूँ और स्वर्ग के लालच को भी मिटा देना चाहती हूँ। मैं मनुष्य के मन में यह भाव उत्पन्न करना चाहती हूँ कि सत्य, सत्य के लिए है ; जीवन, जीवन के लिए है और आत्मा, आत्मा के लिए है।

तो भाई, मैं तो उस बुढ़िया से सहमत हूँ, चाहे हमारे साथी सहमत न हों। जो सहमत नहीं हैं, उससे मैं पूछता हूँ कि आप पाप से क्यों नहीं डरते ? पाप के फल से क्यों डरते हैं ? जो पाप है, अपने-आप में हिंसा है, उससे तो आप डरते नहीं और उसे पाप के द्वारा मिलने वाली नरकयोनि या पशुयोनि से क्यों डरते हैं।

दुनिया में ऐसे भी दार्शनिक मौजूद हैं, जो कहते हैं कि दुनिया-भर के पाप करो, सिर्फ प्रभु का नाम ले लो, तो बस छुटकारा मिल जाएगा। मैं एक जगह ठहरा था और पास ही मस्जिद थी। रात्रि में मुहम्मद साहब की जयन्ती मनाई जा रही थी। वहाँ मुहम्मद साहब के लिए एक नज़्म पढ़ी गई। उसका आशय यह था—

हे मुहम्मद ! मैं तेरे भरोसे बेफिक्र हूँ। मुझे कोई चिन्ता नहीं है। जो कुछ भी भला-बुरा कर रहा हूँ, तेरे पीछे कर रहा हूँ; क्योंकि तू खुदा के पास है और जो खुदा को करना होगा, वह तुझको पूछे विना नहीं करेगा। तू हमारा प्रतिनिधि है और जब खुदा पूछे, तो कह देना-माफ़ कर दे, क्योंकि ये तेरे प्रति ईमान लाये हुए हैं।

यह नज्म सुनते ही लोगों ने तालियों की गड़गड़ाहट की और दुबारा फिर वह नज्म सुनाई गई। यह सब सुन कर मैंने अपने मन में सोचा—ऐसे धर्म भी हैं, जो जनता को ऐसा चिन्तन दे रहे हैं।

किसी ने मुहम्मद को खुदा के पास बैठा रक्खा है, तो किसी ने ईसा को अपना प्रतिनिधि नियुक्त करके ईश्वर की बगल में जमा दिया है। उन्हें दुनिया-भर के पापों को क्षमा करा देने का ठेकेदार बना दिया है। ये पाप किये जाएँगे और वे क्षमा कराते जायेंगे। जब यह बात है, तो जीवन की बुराइयों से कौन लड़ेगा ? जब इतना सीधा-सादा नुसख़ा मिल गया है, तो जीवन से जूझने और अपना खून बहाते हुए चलने की मुसीबत कौन झेलना चाहेगा ? पापों और गुनाहों से डरने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है सिर्फ इस बात की कि उस ठेकेदार के प्रति ईमानदार रहो, वफादार रहो, बस इसी से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा, वह सब गुनाहों को माफ करा देगा।

हमारे यहाँ, भारत के धर्मों में भी इसी ढंग की बातें चल रही हैं। गंगा में डुबकी लगा लेंगे, तो पवित्र हो जाएँगे ! नदी में स्नान कर लेने से पाप धुल जाएँगे और पहाड़ों पर चढ़ जाने से कष्टों से बच जाएँगे।

जनता को इस प्रकार की प्रेरणा देने वाले धर्मों ने उसे पापों से बचाने की प्रेरणा नहीं दी, सिर्फ पापों के फल से बचाने की

प्रेरणा दी है। परन्तु, जैन-धर्म की साधना ऐसी नहीं है। वह पापों से बचाने की साधना है। हिंसा अपने-आपमें हिंसा है और बुराई अपने-आपमें बुराई है। और जब हम हिंसा को ठुकराते हैं, तो बुराई को बुराइ के रूप में ठुकराते हैं। जैन-धर्म ने कोई ऐसा अखाड़ा नहीं कायम कर रक्खा है, कोई ऐसी जगह नहीं मानी है, जहाँ परमेश्वर का दरबार लगा हो और गौतम हमारे प्रतिनिधि के के रूप में बैटे हों! जैन-धर्म का संदेश तो यह है कि- हे साधक, तू जहाँ है, वहीं अपने जीवन के लिये काम कर।

इसका अभिप्राय यह है कि तू नरक के भय मे मत चल और स्वर्ग के लालच से भी मत चल। दोनों के बीच से गली है और वही सीधी मोक्ष की तरफ जा रही है। वह बन्धनों से छुड़ाने के लिये है। नरक वगैरह के भय की बुद्धि से जो कुछ किया जाता है, वह मौलिक दृष्टिकोण नहीं है। अगर तुम पाप को बुरी चीज समझ चुके हो, तो उसी से बचने का प्रयत्न करो। पापों से न डर कर पापों के फल से डरने की जो वृत्ति पैदा हो गई है, उसे दूर कर दो। स्वर्ग की आकांक्षा करना यदि निदान नामक आर्तध्यान है तो नरक से डरने की चिन्ता भी अनिष्ट संयोग की संभावना से होने वाला आर्तध्यान ही है। आर्तध्यान प्रत्येक दशा में त्याज्य है।

जहाँ पाप से न डर कर पाप के फल से डरने की वृत्ति प्रधान होती है, वहाँ जीवन में विरूपता आये विना नहीं रहती। आज क्या साधु-समाज और क्या गृहस्थ-वर्ग के जीवन में जो विरूपता दिखाई देती है. उसका मूल यही वृत्ति है। साधु एक जगह तो अपना कुछ रूप रखते हैं और दूसरी जगह दूसरा रूप बना लेते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ जब दुकान पर होता है और बेचारा कोई ग्रामीण सौदा लेने आता है, तो उसके सिर के सारे बाल ही साफ कर लेते हैं, और यदि कोई सरकारी आदमी आता है, तो

उसे कंट्रोल के भाव से वह चीज देते हैं। इस भय के कारण कि कहीं 'ब्लेक-मार्केटिंग' करते हुए पकड़ में न आ जाएँ और कहीं जेलखाने की हवा न खानी पड़े। इसका मतलब यह हुआ कि पाप से बचने की बुद्धि नहीं जागी है, सिर्फ पाप के फल से बचने की बुद्धि जागी है। इसी कारण जब व्यापारी को ब्लेक-मार्केटिंग के फल का जुर्माना, सजा या कारागार का भय नहीं होता, तब वह धड़ल्ले के साथ ब्लेक-मार्केटिंग करता है; क्योंकि उसे पाप से नहीं डरना है, केवल उसके फल से बचना है।

यह आत्मोत्थान का मार्ग नहीं है, यह उपासना की पद्धति भी नहीं है। इसमें सत्य को कोई स्थान नहीं है। जो सत्य की उपासना करने वाले हैं, उन्हें अपने अन्तर में सहजभाव जगाना होगा और पाप को पाप होने के कारण ही छोड़ना होगा। हिंसा स्वयं हेय है, इसलिए उसे त्यागना चाहिए। जीवन की बुराई अपने-आपमें ही बुराई है और उसको कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। वह बुराई कदाचित् स्वर्ग देने वाली हो, तो भी त्याज्य ही है। हजारों आदमी विश्वास दिलाएँ कि हिंसा और असत्य स्वर्ग देने वाले हैं और तुमको यह स्वर्ग में पहुँचा देंगे, तब भी जैनधर्म उन्हें त्याज्य ही कहता है।

यज्ञ की हिंसा को उपादेय रूप क्यों मिला? क्या आपने कभी सोचा है कि धर्मात्मा कहलाने वाले लोग भी क्यों निःसंकोच होकर यज्ञ में पशुओं की बलि देने को तैयार हो जाते थे? विचार करने पर विदित होगा कि उन्होंने हिंसा को हिंसा के रूप में ही हेय नहीं समझा था। उनकी दृष्टि कर्तव्य की ओर नहीं, फल की ओर थी। जब उन्हें मालूम हुआ कि यज्ञ में हिंसा करके भी हम हिंसा के फल से बचे रहेंगे, और बल्कि स्वर्ग पाएँगे, तो लोग बेधड़क यज्ञ में हिंसा करने लगे।

इस प्रकार पाप से बचने के बदले, पाप के फल से बचने की वृत्ति ने अनेक अनर्थ उत्पन्न किये हैं। विश्व का इतिहास ऐसे अनर्थों से रंगा हुआ है। इसीलिए मैं कहता हूँ और बार-बार चेतावनी देता हूँ कि जब किसी कर्तव्य के विषय में विचार करो, तो उसके गुण-अवगुण पर ही विचार करो। उसकी बुराई को सोचो। अपनी दृष्टि को कर्तव्य-प्रधान बनाओ, फल-प्रधान न बनाओ। पाप से बचने वाला उसके फल से अवश्य बच जायगा और स्वतः ही बच जाएगा; मगर पाप के फल से बचने की कोशिश करने वाले के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। इस प्रकार सत्य की उपासना और आराधना ही साधना का मूल स्रोत है और यही जीवन-सुधार का दृष्टिकोण है।

व्यावहारिक सत्य

पिछले कई दिनों से सत्य का विवेचन आपके सामने चल रहा है। सत्य का स्वरूप बहुत विराट है, देश और काल की कोई भी सीमाएँ उसे अपनी परिधि में नहीं घेर सकतीं। ऐसी स्थिति में सत्य का सम्पूर्ण विवेचन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता, शब्दों में उसे बाँधा नहीं जा सकता। फिर भी प्रयत्न किया जा रहा है कि उसका अधिक से अधिक व्यापक स्वरूप आपके सामने रखा जा सके। सत्य की तस्वीर, भले ही वह धुंधली ही क्यों न हो, पर सर्वांगीण हो, लँगड़ी न हो, और वह आपके समक्ष रख दी जाय। इसी कारण सत्य के सम्बन्ध में लम्बी बातें चल रही हैं।

अहिंसा पर हमने, हमारे पूर्वजों ने और हमारे महापुरुषों ने बहुत अधिक चर्चा की है और मनन भी किया है। बाद में उसके गलत या सही रूप हो गये, यह दूसरी बात है, फिर भी अहिंसा को हम झटपट समझ जाते हैं। किन्तु सत्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मगर सत्य का दर्जा छोटा नहीं है। अहिंसा के समान ही सत्य भी महान् है और इतना महान है कि जब तक सत्य को भली भाँति न समझ लिया जाय, अहिंसा को भी भलीभाँति नहीं समझा जा सकता। अकेली अहिंसा या अकेला सत्य जीवन में नहीं उतारा जा सकता। अहिंसा के बिना सत्य में और सत्य के बिना अहिंसा में अधूरापन है और उससे जीवन की पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। संभव नहीं कि अहिंसा आगे बढ़ जाय और सत्य पीछे रह जाय। दोनों को साथ-साथ कदम

बढ़ाना है। फिर भी देखा जाता है कि जनता में अहिंसा जितनी दूर-दूर तक पहुँची है, सत्य उतना नहीं पहुँचा। मगर अहिंसा में प्राण डालने के लिए सत्य को भी वहाँ पहुँचना चाहिए। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य के सम्बन्ध में विस्तृत बातें की जा रही हैं।

आज सत्य के दार्शनिक रूप में न जाकर व्यावहारिक रूप का हमें विचार करना है। सत्य का व्यावहारिक रूप भी हमारे जीवन का एक बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न है और उस पर विचार करने की आवश्यकता है।

सत्य की व्यावहारिक साधना के लिए आवश्यकता इस चीज की है कि हम अपने मन को जगाये रक्खें और सोने न दें। जब मन सो जाता है और हम समय पर जागृत नहीं होते—सावधान नहीं होते और चाहते हैं कि सत्य साथ दे। पर ऐसा होना कठिन है।

जितना-जितना सत्य जागृत है, उतना-उतना ही मन जागृत रहता है और जितना-जितना सत्य सोता रहता है, मन भी उतना ही उतना सोता रहता है।

सत्य के लिए मनमें कड़क होनी चाहिए। जब तक मन मजबूत नहीं है और असत्य से टक्कर लेने को तैयार नहीं है, व्यक्तिगत जीवन की, परिवार की और समाज की बुराइयों के साथ संघर्ष करने को तैयार नहीं है, तब तक उसका सत्य, सत्य नहीं है। सत्य का असत्य के साथ समझौता नहीं किया जा सकता। सत्य, समय को परख सकता है और परिस्थिति का खयाल कर सकता है; सम्भव है वह थोड़ी देर इन्तजार कर ले और यह भी सम्भव है कि अपने प्रयत्नों को कुछ देर के लिए ढीला छोड़ दे; किन्तु यह सब थोड़ी देर के लिए ही होगा। वह

हमेशा के लिए हथियार नहीं डालता है और डाल देता है, तो सत्य नहीं रहता है।

सत्य को हर जगह लड़ना है। उसे कहीं झुकना नहीं है। देश, काल, परिस्थिति और समाज की चेतना-जागृति की प्रतीक्षा उसे करनी पड़ती है, सो इसलिए कि वह प्रतीक्षा वर्षों की जागृति के लिए होगी। प्रतीक्षा के काल में हम सोचें कि समाज में क्या-क्या गलतियाँ हैं और ये किस प्रकार दूर की जा सकती हैं? इस रूप में देर भले ही लगे, मगर सत्य अपना संकल्प न बदलता है, न ढीला करता है। कभी-कभी तो ऐसा भी प्रसंग आ जाता है कि सत्य को अपने सन्निकटवर्ती पारिवारिक-जन के साथ भी घनघोर युद्ध करना पड़ता है।

आज मैं दार्शनिक चर्चा में न जाकर सत्य के व्यावहारिक स्वरूप पर ही जा रहा हूँ। व्यावहारिक सत्य की हमारे जीवन में बहुत आवश्यकता है। मान लीजिए, आप कहीं बाहर गये हैं और किसी ने आपको भोजन करने का निमंत्रण दिया है। आपने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है और भोजन के लिए पहुँच जाने का समय भी नियत कर दिया है। अब निमंत्रण देने वाला अपने आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर आपके लिए सारी तैयारिया करता है। मगर आपमें व्यवहार सत्य नहीं है; अतः आप समय का खयाल न करके कहीं बैठ जाते हैं, किसी के साथ चर्चा या विचार करने लग जाते हैं और इस प्रकार घंटों पर घंटे व्यतीत हो जाते हैं। उधर आपके निमंत्रण के कारण सारा परिवार रुका रहता है। अब आएँगे, आते ही होंगे, इस प्रकार इन्तजार करता रहता है। और आप हैं कि जहाँ बैठ गये, सो बैठ गये, या अन्य आवश्यक कार्य में जुट; गये निमंत्रणदाता को दिये समय का, उसकी सुविधा-असुविधा का कुछ भी खयाल नहीं करते! आप नहीं सोचते कि आखिर उसे भी कोई आवश्यक कार्य हो सकता

बढ़ाना है। फिर भी देखा जाता है कि जनता में अहिंसा जितनी दूर-दूर तक पहुँची है, सत्य उतना नहीं पहुँचा। मगर अहिंसा में प्राण डालने के लिए सत्य को भी वहाँ पहुँचना चाहिए। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य के सम्बन्ध में विस्तृत बातें की जा रही हैं।

आज सत्य के दार्शनिक रूप में न जाकर व्यावहारिक रूप का हमें विचार करना है। सत्य का व्यावहारिक रूप भी हमारे जीवन का एक बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न है और उस पर विचार करने की आवश्यकता है।

सत्य की व्यावहारिक साधना के लिए आवश्यकता इस चीज की है कि हम अपने मन को जगाये रक्खें और सोने न दें। जब मन सो जाता है और हम समय पर जागृत नहीं होते—सावधान नहीं होते और चाहते हैं कि सत्य साथ दे। पर ऐसा होना कठिन है।

जितना-जितना सत्य जागृत है, उतना-उतना ही मन जागृत रहता है और जितना-जितना सत्य सोता रहता है, मन भी उतना ही उतना सोता रहता है।

सत्य के लिए मनमें कड़क होनी चाहिए। जब तक मन मजबूत नहीं है और असत्य से टक्कर लेने को तैयार नहीं है, व्यक्तिगत जीवन की, परिवार की और समाज की बुराइयों के साथ संघर्ष करने को तैयार नहीं है, तब तक उसका सत्य, सत्य नहीं है। सत्य का असत्य के साथ समझौता नहीं किया जा सकता। सत्य, समय को परख सकता है और परिस्थिति का ख़याल कर सकता है; सम्भव है वह थोड़ी देर इन्तजार कर ले और यह भी सम्भव है कि अपने प्रयत्नों को कुछ देर के लिए ढीला छोड़ दे; किन्तु यह सब थोड़ी देर के लिए ही होगा। वह

हमेशा के लिए हथियार नहीं डालता है और डाल देता है, तो सत्य नहीं रहता है।

सत्य को हर जगह लड़ना है। उसे कहीं झुकना नहीं है। देश, काल, परिस्थिति और समाज की चेतना-जागृति की प्रतीक्षा उसे करनी पड़ती है, सो इसलिए कि वह प्रतीक्षा वर्षों की जागृति के लिए होगी। प्रतीक्षा के काल में हम सोचें कि समाज में क्या-क्या गलतियाँ हैं और ये किस प्रकार दूर की जा सकती हैं? इस रूप में देर भले ही लगे, मगर सत्य अपना संकल्प न बदलता है, न ढीला करता है। कभी-कभी तो ऐसा भी प्रसंग आ जाता है कि सत्य को अपने सन्निकटवर्ती पारिवारिक-जन के साथ भी घनघोर युद्ध करना पड़ता है।

आज मैं दार्शनिक चर्चा में न जाकर सत्य के व्यावहारिक स्वरूप पर ही जा रहा हूँ। व्यावहारिक सत्य की हमारे जीवन में बहुत आवश्यकता है। मान लीजिए, आप कहीं बाहर गये हैं और किसी ने आपको भोजन करने का निमंत्रण दिया है। आपने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है और भोजन के लिए पहुँच जाने का समय भी नियत कर दिया है। अब निमंत्रण देने वाला अपने आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर आपके लिए सारी तैयारियाँ करता है। मगर आपमें व्यवहार सत्य नहीं है; अतः आप समय का खयाल न करके कहीं बैठ जाते हैं, किसी के साथ चर्चा या विचार करने लग जाते हैं और इस प्रकार घंटों पर घंटे व्यतीत हो जाते हैं। उधर आपके निमंत्रण के कारण सारा परिवार रुका रहता है। अब आएँगे, आते ही होंगे, इस प्रकार इन्तजार करता रहता है। और आप हैं कि जहाँ बैठ गये, सो बैठ गये, या अन्य आवश्यक कार्य में जुट; गये निमंत्रणदाता को दिये समय का, उसकी सुविधा-असुविधा का कुछ भी खयाल नहीं करते! आप नहीं सोचते कि आखिर उसे भी कोई आवश्यक कार्य हो सकता

है, उसे भी परेशानी हो सकती है। आप उसके समय की हत्या कर देते हैं।

यह बात आपको साधारण-सी मालूम पड़ेगी। आप सोचते होंगे—अजी, यह तो मामूली-सी बात है। किन्तु, ऐसी मामूली-मामूली बातें मिल कर ही हमारे जीवन का निर्माण करती हैं। किसी को दिये समय पर न पहुँच पाने का अर्थ यह है कि आप वक्त पर अपने जीवन को नहीं बना पाये, पिछड़ गये।

घर में आग लग जाय और तत्काल आग बुझाने की आवश्यकता हो; किन्तु आप समय पर न पहुँच पाएँ, तो परिणाम यही होगा कि घर राख का ढेर हो जायगा! उस समय आप विलम्ब से पहुँचने को साधारण-सी बात समझेंगे और उसे कोई महत्व न देंगे। कह देंगे—अजी, थोड़ी-सी देर हो गई, तो क्या हो गया? ऐसा सोचने और कहने वाले को बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

तो, हमारे आध्यात्मिक चिन्तन का भी यही आदेश है कि हम किसी से कोई वायदा करें, तो हजार काम छोड़कर भी उसे समय पर पूरा करें। अगर कोई अनिवार्य कारण उपस्थित हो गया है और आप नियत समय पर नहीं पहुँच सकते, तो उसे इस बात की सूचना तो भेज ही सकते हैं। ऐसा करने से आपके व्यावहारिक सत्य की रक्षा होगी और दूसरे की व्यवस्था भंग नहीं होगी, उसे परेशानी नहीं होगी, उसका समय नष्ट न होगा।

हमारे देश में कोई सभा-सोसाइटी होती है या किसी का प्रवचन होता है, तो क्या देखते हैं? जनता को सूचना देते समय सोचा जाता है कि लिखे समय पर तो लोग आएंगे नहीं, अतएव आठ बजे कार्य प्रारंभ करना है, तो साढ़े सात बजे का समय लिखा जाय। ऐसा ही प्रायः किया जाता है। जनता मन में

समझती है कि साढ़े सात का समय लिखा गया है, तो आठ-साढ़े आठ से पहले क्या काम आरम्भ होने वाला है। वह इसी समय पर आती है और इसी समय पर वास्तव में कार्य प्रारम्भ होता है। कोई भला आदमी नियत समय पर आता है, तो देखता है कि साढ़े सात बज चुकने पर भी सभा का कोई सिलसिला नजर नहीं आता। इस प्रकार सभा के संयोजक जनता को धोखा देने की चेष्टा करते हैं। उनमें पहले ही असत्य ने अपनी जगह ले ली है। इस व्यापक अप्रामाणिकता को देख कर ही अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय समाज का जीवन किस प्रकार असत्य से ओत-प्रोत हो रहा है।

पाश्चात्य देशों के साथ भारत का बहुत सम्पर्क रहा है और आज विज्ञान की बदौलत प्रत्येक देश का अन्य देशों के साथ सन्निकट का सम्बन्ध हो गया है। जो विदेशी भारत में इतने वर्ष रह गये, उनकी संस्कृति आज भी चमक रही है। उनमें क्या गुण और अवगुण थे, इस प्रश्न पर यहाँ चर्चा नहीं करना है। मगर उनमें एक बड़ा गुण अवश्य था कि वे समय के बहुत पाबंद थे। वे जो समय दे देंगे, उसी पर आयेंगे। आठ बजे का समय नियत किया गया है, तो आप देखेंगे कि ठीक समय से चार-पाँच मिनट पहले सारा सभा-हॉल खाली दिखाई देता था और इन बीच के चंद मिनटों में खचाखच भर जाता है और हजारों मन एक साथ दौड़ते हैं। ठीक समय पर कार्य आरम्भ हो जाता है और ठीक समय पर समाप्त हो जाता है। चार-पाँच मिनट बाद सभा-हाल फिर ज्यों का त्यों सुनसान दिखलाई पड़ता है। सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं।

पाश्चात्य लोगों की यह व्यवस्था है! चिरकाल उनके सम्पर्क में रहने के बाद भी हम समय की वह पाबन्दी नहीं सीख पाये।

हमने उनके इस गुण की नकल नहीं की ! नकल की भी तो उनकी वेष-भूषा की और बोली की या रहन-सहन की। इन बातों में साधारण आदमी भी उनकी नकल करके अंगरेज बनने में अपनी शान समझने लगा। इसी प्रकार उनके खान-पान और आमोद-प्रमोद को अपनाने का प्रयत्न किया गया, जिनकी हमें आवश्यकता नहीं था। उनकी अच्छाइयाँ भारतवासियों ने नहीं सीखीं, उनकी बुराइयाँ जो इस देश के दृष्टिकोण से बुराइयाँ हैं, गौरव के साथ सीख ली गईं।

अभिप्राय यह है कि हम जीवन को साधारण समझे जाने वाले व्यवहारों में भी प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा के साथ नहीं बरतते। मगर यह बरताव बतलाते हैं कि जीवन में सत्य है या नहीं ? साधारण तौर पर इस प्रकार के असत्य को असत्य नहीं समझा जाता, परन्तु विचार करना चाहिए कि जीवन क्या है ? जीवन के छोटे-छोटे प्रतीत होने वाले अंग भी महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इतना विशाल महल खड़ा है, तो उसमें एक ईंट ही नहीं थापी गई है और उसी से यह खड़ा नहीं हो गया है। अनेक छोटी-छोटी ईंटों के, चूने के और रेत के नगण्य कणों के मिलने पर ही महल में विशालता आई है। इसी प्रकार हमारे जीवन के छोटे-छोटे व्यवहार, बरताव, आदतों आदि के सम्मिलन से ही हमारा जीवन बना है और वहीं से सत्य की शुरूआत होती है। बोलचाल में सत्य हो, व्यवहार में सत्य हो, रहन-सहन और खान-पान में सत्य हो और हमारे प्रत्येक वायदे में सत्य हो, तभी सत्यमय जीवन का निर्माण संभव है। अगर हमने इन बातों में सत्य की उपेक्षा की और सत्य-असत्य का विचार न किया, तो जीवन असत्यमय बन जायगा। असत्य, जीवन के छोटे-छोटे छिन्द्रों में से प्रवेश करके समग्र जीवन को ग्रस लेता है और फिर जीवन का निर्माण नहीं हो सकता।

आप सर्दी-गर्मी से बचने के लिए चादर ओढ़ लेते हैं ; मगर चादर की असलियत पर विचार कीजिये। वह एक ही किसी तार से नहीं बनी है। उसमें पतले-पतले अनेक तार हैं और उन्हीं को चादर का रूप प्राप्त हो गया है और वह एक ताकत बन गई है। किन्तु अलग-अलग तारों का क्या महत्त्व है? अलग-अलग तार होंगे, तो वह चादर नहीं कहलाएगी। इसी प्रकार हमारे छोटे-मोटे सभी व्यवहार मिलकर जीवन का रूप ग्रहण करते हैं। परन्तु हम उन व्यवहारों में तो सत्य को महत्त्व देते नहीं, राजा हरिश्चन्द्र को महत्त्व देते हैं। परिणाम यह होता है कि हम न हरिश्चन्द्र बन पाते हैं, न अपने जीवन का निर्माण कर पाते हैं; और इस हालत में छोटा और बड़ा सत्य दोनों ही हाथ नहीं लग पाते।

लोग संस्था बनाते हैं और कार्यकर्ताओं का चुनाव होता है। कार्यकर्ता चुन लिया जाता है और वह पद-ग्रहण कर लेता है। फिर भी वह उस संस्था का यथावत् कार्य नहीं करता, सिर पर लिये उत्तरदायित्व को नहीं निभाता और वर्षों के वर्ष बीत जाने पर भी वह उस पद पर जमा रहता है। इस प्रकार लोग पद-लोलुपता के कारण किसी संस्था के अध्यक्ष बन जाते हैं, किसी के मंत्री बन जाते हैं, परन्तु अपने उत्तरदायित्व को अनुभव नहीं करते। यह भी जीवन में एक बड़ा असत्य है, जिसे आम तौर पर असत्य नहीं समझा जाता।

जिस काम को तुम नहीं कर सकते, जिसको करने की योग्यता ही तुम में नहीं है अथवा योग्यता होने पर भी जीवन के संघर्षों में उलझे रहने के कारण अवकाश नहीं निकल पाते, उसका उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेते क्यों हो? उत्तरदायित्व लेते हो; तो उसे शक्ति-भर निभाने का प्रयत्न करो। प्रयत्न करते नहीं और

उत्तरदायित्व को त्यागते भी नहीं हो, तो समझ लो कि तुम महान् असत्य का आचरण कर रहे हो। ऐसे असत्य को प्रश्रय देकर अपने जीवन की अच्छाइयों के टुकड़े-टुकड़े करते हो।

महान् सिकन्दर के जीवन की एक घटना है। उसके देश के किसी कोने से एक बुढ़िया निकली और सम्राट् के दरबार में पहुँची। वहाँ उसने पुकार मचाई और रोने लगी। उसने कहा—"मेरे पुत्र के ऊपर आपके देश के और मेरे आसपास के लोग अत्याचार कर रहे हैं, वहाँ कोई व्यवस्था नहीं हो रही है और मेरे लड़के का जीवन वर्बाद हो रहा है, मैंने वहाँ के अधिकारियों के सामने पुकार की, मगर कोई सुनवाई नहीं हुई। किसी ने मेरी पुकार पर ध्यान नहीं दिया। तब विवश होकर लड़खड़ाती हुई चाल से चलकर आपके दरबार में आई हूँ।"

सिकन्दर ने उत्तर दिया—"तुम्हारी बात ठीक है। परन्तु यह तो सोचो कि मेरा साम्राज्य कितना बड़ा है? कितना लम्बा-चौड़ा है? यह गड़बड़ साम्राज्य के एक किनारे पर हो रही है। मैं कहाँ-कहाँ व्यवस्था करने दौड़ूँ? कहीं न कहीं अव्यवस्था तो हो ही जाती है।"

सिकन्दर का उत्तर सुनकर बुढ़िया क्रुद्ध गई। उसकी आँखों से आग बरसने लगी। उसने आवेश में आकर कहा—"यदि तुम इतनी दूरी पर व्यवस्था नहीं कर सकते, तो इतने बड़े साम्राज्य के अधिपति क्यों बने हो? उस टुकड़े को अपने साम्राज्य में क्यों जोड़ रक्खा है? तुम कहते हो मैं कहाँ-कहाँ जाऊँ, इसका अर्थ यह है कि तुम व्यवस्था नहीं कर सकते। नहीं कर सकते, तो सल्तनत के साथ अपने नाम को क्यों जोड़ा है? क्यों उत्तर-दायित्व लेकर बैठे हो? अधिकार चाहिए पर उत्तरदायित्व नहीं चाहिए?"

बुढ़िया की कठोर मगर सत्य से परिपूर्ण भिड़की सुनकर सिकन्दर की आँखें खुल गईं। उसने बुढ़िया के पैर पकड़ लिये और कहा—"माँ, तुम ठीक ही कहती हो। जब मैं व्यवस्था नहीं कर सकता, तो अपनी सल्तनत के साथ अपना नाम जोड़ रखने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। दूर-दूर के भूखण्डों को साम्राज्य में मिलाते जाने का भी मुझे अधिकार नहीं।"

अभिप्राय यह है कि जो जिस उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकता, उसे वह उत्तरदायित्व ग्रहण भी नहीं करना चाहिए।

एक परिवार है और उसमें माता, पिता, बच्चे, भाई, बहिन आदि हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों परिवार बड़ा होता जाता है, परिवार के स्वामी के हाथ-पैर ढीले पड़ते जाते हैं। और फिर यह होता है कि बच्चों को न समय पर शिक्षा और वस्त्र ही मिल पाते हैं और न सांस्कृतिक दृष्टि से उनके जीवन का निर्माण ही हो पाता है। इस प्रकार जीवन की पगडंडियों पर ो लड़खड़ाते हुए चलते हैं और उनके जीवन में भूख का हाहाकार ालू रहता है। तब उस परिवार के स्वामी को यह कहने का क नहीं है कि इतना बड़ा परिवार बन गया है। क्या करूँ, ैसे निभाऊँ? जब तू इतने बड़े परिवार को नहीं निभा सकता, ो तूने उसे बनाया ही क्यों? क्यों उत्तरदायित्व अपने सिर पर ओढ़ा? जब तू परिवार का स्वामी बना है, तो भले ही तुझे भूखा हना पड़े या कुछ भी करना पड़े, परन्तु परिवार के प्रति ग्रहण किये उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ही पड़ेगा। जब तुम दस-पाँच आदमियों के भरण-पोषण का अधिकार अपने ऊपर लेते हो और व्यवस्था नहीं कर पाते हो और कहते हो कि मैं क्या करूँ, तो सिकन्दर की तरह तुम्हें भी अनुभव करना पड़ेगा कि जो जिस उत्तरदायित्व को पूर्ण नहीं कर सकता, उसे वह उत्तरदायित्व ग्रहण करने का क्या अधिकार है?

जैनसमाज कभी करोड़ों की संख्या में था। धीरे-धीरे कम होते-होते आज वह अल्पसंख्यक रह गया है। उसे आप अपने एक गिरोह में रख रहे हैं। किन्तु उस समाज के बच्चों को ठीक समय पर शिक्षा मिलती है या नहीं, उन बच्चों का जीवन-निर्माण हो रहा है अथवा नहीं हो रहा है, इस ओर कोई ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार समाज की बहिनें अपने जीवन की समस्या किस प्रकार हल कर रही हैं और समय पर उन्हें अन्न एवं वस्त्र उपलब्ध होता है या नहीं, इस ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। वे जीवन के भार को ढोये जा रही हैं और सवेरे से शाम तक आँसू बहाने के सिवाय उनके पास कोई काम नहीं है! आप इस स्थिति पर विचार नहीं करते और फिर भी कहते हैं कि हमारे समाज के इतने घर हैं। मैं पूछता हूँ—तुमको ऐसा कहने का क्या अधिकार है? अपने समाज में उनकी गणना करने का अधिकार किस आधार पर तुम्हें प्राप्त हुआ है? जब तुम उनके लिए कुछ भी नहीं करते, तो तुम्हें कोई हक नहीं कि उनकी गणना अपने समाज में कर सको। तुम बातें करते हो और समाज के घर गिनाने का प्रसंग आता है, तो चटपट उनकी गणना कर लेते हो और अपनी संख्या विराट बताने का प्रयत्न करते हो। मगर वर्षों बीत जाने पर भी उनकी सुध नहीं लेते! उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं करते। ऐसी स्थिति में सिकंदर की तरह बुढ़िया तुम से भी कहेगी कि जब समाज के उन अंगों के लिए कोई व्यवस्था नहीं कर पाते, तो जैनसमाज की गिनती करते समय उनको सम्मिलित करने का तुम्हें क्या अधिकार है? आपके सामने यह एक मूलभूत प्रश्न है और आपको इस पर विचार करना है। मैं समझता हूँ कि इस रूप में एक बहुत बड़े असत्य का सेवन किया जा रहा है।

जो लोग अपने समाज के लिए कुछ नहीं कर सकते, समाज

के लिए कोई चिन्तन भा नहीं कर पाते और फिर भी समाज के ठेकेदार बनते हैं, उस समाज के नायक होने का गौरव अनुभव करते हैं, वे निःसन्देह अपने जीवन में असत्य को आश्रय दे रहे हैं।

मैंने देखा है कि आपमें से कई भाइयों को धर्म की प्रेरणा होती है। वे साधुओं के सामने भी विचार करते हैं, तो कहते हैं कि ग्रामों में प्रचार किया जाय, अजैनों को जैन बनाया जाय और इस बारे में वे अपनी आवाज बुलन्द भी करते हैं। लेकिन मैं सोचता हूँ कि हम दूसरों को तो जैन बनाने की बातें करते हैं, किन्तु हजारों वर्षों से जो जैन बने हुए हैं और जैनसमाज के अभिन्न अंग के रूप में रह रहे हैं, उन्हें कितना सँभाल रहे हैं आप? भाई, पहले उन्हें तो सँभाल लो, फिर नवीन जैन बनाने का अधिकार तुम्हें प्राप्त होगा। आखिर उनके लिए भी कुछ करोगे या नहीं? जब उनके लिए ही आप कुछ नहीं कर सकते और उनका उत्तर-दायित्व पूरा नहीं कर सकते, तो नवीन सदस्यों को अपने अन्दर मिलाने का आपको कोई अधिकार नहीं मिल सकता। पहले अपने आसपास के आदमियों की व्यवस्था करो और फिर दूर वालों का उत्तरदायित्व ओढ़ने का विचार करो। उनके सम्बन्ध में कुछ सोचा नहीं और दूसरों की जवाबदारी लेने चले हो, तो वही कहावत चरितार्थ होती है कि घर में खाने को मुट्ठी-भर चना नहीं और दुनिया-भर को निमंत्रण देने चले हो। जो आदमी अपना भी पेट नहीं भर सकता, वह दुनिया को प्रीतिभोज देने चलेगा, तो क्या कर पाएगा? वह कुछ भी नहीं कर पाएगा।

जैनसमाज और जैनधर्म, ये दो तत्त्व हैं। अगर आप जैन-समाज का विस्तार करना चाहते हैं, तो उसके लिए आपके सहयोग की आवश्यकता है। जैनसमाज का विस्तार करना कोई कठिन बात नहीं है। आज भी हजारों जैन बन सकते हैं, किन्तु उनको

सँभालने के लिए छाती भी तो चाहिए। वह छाती नहीं है, उत्तर-दायित्व का निर्वाह करने का साहस नहीं है, तो कोरी बातें करने से काम नहीं चलेगा। ऐसा करके आप समाज का विस्तार करने के बदले अपने जीवन में असत्य का ही विस्तार करेंगे।

मैं अपने जीवन का अनुभव आपको सुनाता हूँ। श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव पृथ्वीचन्द्र जी महाराज मैंने, वाचस्पति श्री मदनमुनिजी ने तथा दूसरे संतों ने गाँवों में विचरण करने का विचार किया। मन में तरंगें उठा करती हैं और जब उठती हैं, तो साधु उनसे चिपट भी जाते हैं। तो हम लोगों ने ग्रामों में ही प्रचार करने का विचार किया। विचार को कार्य में परिणत करने के लिए हम वहाँ से नजदीक के एक गाँव में गये। वहाँ कुछ काम किया और फिर वहाँ के भाइयों से पूछा—कोई गाँव है पास में ? उन भाइयों ने बतलाया—हाँ, कासन गाँव है, किन्तु उसमें जैनी नहीं रहे हैं। पहले तो बहुत थे, पर अब सब आर्य-समाजी बन गये हैं। वे लोग बड़े कट्टर हैं। कोई साधु पहुँच जाता है, तो लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं। हम ने कहा—कोई भाई हमारे साथ हो, तो हम उसके सहारे चल पड़ें। संयोगवश उसी गाँव का एक ७५ वर्ष का वृद्ध वहाँ आ पहुँचा। आकर उसने वन्दना की। उसकी बातचीत से पता लगा कि उस गाँव में जैन-धर्म का वह ध्वंसावशेष है, खंडहर है। मैंने उससे कहा—हम तुम्हारे गाँव कासन चलना चाहते हैं।

वृद्ध बोला—वहाँ कोई जैनी नहीं है।

हम ने कहा—तुम तो हो।

वृद्ध असमंजस में पड़ गया। बोला—आपको मुश्किल पड़ेगी। वहाँ के लोग ठीक नहीं हैं।

इस पर भी जब हमने आग्रह किया तो उसने कहा—तो भले चलिये।

हम चल पड़े और धर्मशाला में ठहर गये। उस दिन आहार-पानी का भी कष्ट रहा। लेकिन हम वहाँ जमे रहे। थोड़े दिनों में वहाँ जो २०-२५ घर थे, उन्हें सम्यक्त्व दी और नमस्कार-मंत्र पढ़ाना शुरू किया। मालूम हुआ कि बहुत वर्षों से वहाँ कोई साधु नहीं पहुँचे। पारसदास नामक एक गृहस्थ कट्टर आर्य-समाजी था। वह हमारे पास सत्यार्थ-प्रकाश लेकर आया और बराबर संघर्ष करता रहा। उसका सारा का सारा घराना पुनः जैनधर्म में दीक्षित होगया, मगर वह अपनी बात पर डटा रहा। एक बार मैंने हँसते हुए कहा—मत बनो तुम जैन, मगर तुम्हारा जो नाम है, वह तो जैनों की सूची में है! तुम्हारा नाम पारसदास है, दयानन्ददास नहीं है!

हम वहाँ से चले आए। तीन वर्ष बाद जब हम आगरा में थे, तो उसकी पीठ में फोड़ा हुआ और उसकी वेदना से वह व्याकुल हो गया। उसका लड़का उसे दिल्ली ले गया और फिर आगरा लाया। वहाँ वह अस्पताल में दाखिल हो गया। उसका लड़का अपने प्रभाव में था ही। वह अपने पास आया। बोला—पिताजी की हालत अच्छी नहीं है, किन्तु एक आवश्यक मुकदमे की पेशी में मुझे जाना पड़ेगा। अव्वल तो कोई जरूरत पड़ेगी नहीं; कदाचित् कोई मौका आ जाय, तो सान्त्वना का ध्यान रखना। आगरा के भाइयों ने व्यवस्था का भार अपने सिर ले लिया।

अगले दिन पूज्य गुरुदेव गणी श्री श्यामलालजी के साथ अस्पताल पहुँचे। हालांकि उनके साथ हमारा संघर्ष रहा था, फिर भी मनुष्यता की भावना तो दोनों तरफ थी। तो जब हम उसके पास पहुँचे, तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—

"महाराज, जब आप मेरे यहाँ आये थे, मैं आपसे विरोध-स्वरूप संघर्ष करता रहा था; परन्तु आप तो दर्शन देने को चले आये ?"

हमने हँस कर कहा—"संत कभी भी विरोध की भाषा में नहीं सोचता, उसका सोचना तो मानवता की भाषा में होता है। तुम जैन न सही, मानव तो हो ? घबराना मत, सब व्यवस्था हो जाएगी।"

दूसरे दिन मालूम हुआ कि आगरा में उसका इलाज नहीं हो सकता। इलाज पटना में हो सकेगा। वहाँ रेडियम की सुई से इलाज होगा। वह मेरे पास आ गया। आप जानते हैं कि मनुष्य जब दुःख में होता है, तो उसकी चेतना व्याकुल हो जाती है। उसने कहा—"मुझे पटना जाना है, क्या करूँ ?" दो-चार भाइयों ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"हम आपकी सारी व्यवस्था कर देंगे।"

वह जाने को तैयार था। माँगलिक सुन ही रहा था कि इतने में एक भाई वहाँ आया। उसने पूछा—"पटना जा रहे हो, तो वहाँ किसी से जान-पहचान भी है ?"

उसने उत्तर दिया—"मैं तो किसी को नहीं जानता-पहचानता।" तब उस भाई ने कहा—"अच्छा, जरा ठहर जाइए। वहाँ मेरे एक प्रेमी हैं और उनकी अच्छी फर्म है। मैं चिट्ठी लिख देता हूँ और आप सीधे उन्हीं के घर चले जाना।"

चिट्ठी लेकर वह रवाना हो गया। पटना स्टेशन पर उतरा और जिसके नाम पर चिट्ठी थी, उनके भवन के सामने पहुँचा। बेचारा देहाती आदमी था। विचार में पड़ गया कि बड़े आदमी के घर कैसे जाऊँ ?

वह सेठ युवक था और एक बहुत बड़ी फर्म का मालिक था। वह बुड्ढे को देख रहा था और सोच रहा था कि यहाँ ठहर कर भी बुड्ढा ऊपर क्यों नहीं आ रहा है ? आखिर

उसने पूछा—'कैसे खड़े हो ?' उत्तर में उसने चिट्ठी निकाल कर दे दी। सेठ ने चिट्ठी पढ़ कर प्रेम से बिठलाया और अस्पताल में व्यवस्था करा देने का आश्वासन दिया। दूसरे दिन मोटर में बिठलाकर वह उसे अस्पताल में ले गया और स्थान रिक्त होने पर उसे दाखिल करा दिया और उसकी सब आवश्यक व्यवस्था कर दी।

इलाज के बाद जब वह स्वस्थ हो गया, तब उसने एक पत्र लिखा। उस पत्र का क्या पूछना है। वह हृदय-परिवर्तन की बात थी। उसके पत्र का आशय यह था कि 'जब आप मेरे गाँव में आये थे, तो मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। किन्तु आगरे में मेरे साथ जो व्यवहार किया गया, उसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु पटना पहुँचने पर युवक सेठ ने, जिसे मेरे साथ बात करने में भी नफरत आ सकती थी, जो सौहार्द-पूर्ण व्यवहार किया, उसने तो मेरे मन को पूरी तरह मोह लिया है। सच पूछिये, तो सेठ ने क्या, जैनधर्म ने मेरे मन को मुग्ध कर लिया है। मैं वहाँ जैन नहीं बना, यहाँ बन गया हूँ।'

जिन्होंने वह पत्र पढ़ा, गद्गद हो गए।

इतनी लम्बी कहानी सुनाने का मेरा अभिप्राय क्या है ? मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि जैन बनाने की कला क्या है ? बड़े-बड़े मंत्रों से, व्याख्यान फटकार देने से जैन नहीं बन सकते। यद्यपि यह भी एक मार्ग है सही, मगर वह पूरा और प्रभावशाली मार्ग नहीं है। सरल और अचूक मार्ग यही है कि समाज के किसी भी भाई को दुखी देखो, बिछुड़ा हुआ देखो, तो प्रेम का सन्देश लेकर पहुँच जाओ, प्रेम की आँखें लेकर पहुँचो। धन तुमको ऊँचे महलों में ले गया है और तुम अपने गरीब भाई के लिए नीचे उतर सकते हो, तो तुम्हारी दया-धर्म की बातें

उसके हृदय में सीधी प्रवेश कर जाएँगी—हजारों व्याख्यान प्रवेश नहीं करेंगे।

इस घटना का प्रभाव मेरे ऊपर अभी तक पड़ता है। मैं विचार करता हूँ कि जो समाज इतना बड़ा है, किन्तु जो अपने बच्चों, बूढ़ों और असहाय बहिनों की समय-समय पर सार-सँभाल नहीं कर पाता और केवल आने वाले सन्तों के आगे ही घरों की लम्बी-लम्बी गिनती करता है, वह मूल में ही असत्य का सेवन करता है। समाज के जिस अंग को तुम अपना कहते हो, उसकी जवाबदारी को पूरा नहीं कर सकते, तो असत्य का आचरण कर रहे हो। यह भी असत्य का ही एक रूप है।

मेरा आशय यह है कि जीवन का निर्माण करने के लिये अपने जीवन के छोटे-छोटे नियमों और व्यवहारों को भी सत्य-मय बनाने की आवश्यकता है। छोटी बातों में सत्य की उपेक्षा करने से सारा ही जीवन असत्यमय बन जाता है। चाहे कोई गृहस्थ हो अथवा साधु हो, वह जो भी उत्तरदायित्व अपने मस्तक पर ले, उसे सचाई से साथ निभाने का प्रयत्न करे। जो ऐसा प्रयत्न करते हैं, वे सत्य के सन्निकट हैं। उनका जीवन स्पृहणीय बनेगा।

—:-*-:—

अन्ध-विश्वास

सत्य का उद्गम-स्थान मनुष्य का मन या विचार है। सूक्ष्म और एकाग्रभाव से विचार करने पर विदित होगा कि मनुष्य का समग्र जीवन, एक प्रकार से, उसके अपने मन के द्वारा ही शासित और संचालित होता है। मन ही जीवन का सूत्रधार है। तन और वचन, मन की कठपुतलियाँ हैं। मन जिस प्रकार नचाता है, यह कठपुतलियाँ वैसी ही नाचती हैं। जब मन को सत्य का प्रकाश मिलता है, तो वही प्रकाश वाणी में और आचरण में भी उतरने लगता है। अतएव सत्य का सम्बन्ध केवल वाणी से अथवा कायिक व्यवहार से ही नहीं है, मन के साथ भी है और कहना चाहिए कि मन के साथ बहुत घनिष्ठ है। वाणी एवं आचरण में उतरा हुआ सत्य जनता देख लेती है और मन के सत्य को देखना-परखना कठिन होता है। फिर भी मूल तो वही है। जब तक मन का सत्य नहीं होगा, तब तक वाणी और आचरण के सत्य ठीक-ठीक दिशा नहीं पकड़ सकते।

जैन शास्त्रकारों ने वाणी और आचरण के सत्य की अपेक्षा विचारों और मन के सत्य को अधिक महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में जैनशास्त्र अधिक गहरी धारणाएँ रखते हैं। जैनशास्त्रों का यही मन्तव्य है कि हम अपने मन तथा विचारों में सच्चे हो जाएँ और यह दिशा यदि साफ हो जाय, तो हम आगे अच्छी तरह गति कर सकते हैं; अन्यथा नहीं कर सकते।

आप देखते हैं, आज भी जनता में हजारों तरह के अंध-विश्वास अपना अड्डा जमाये हुए हैं और हजारों वर्ष पहले भी अड्डा जमाये थे। जनता में घर किये अंध-परम्पराओं की गणना करने बैठें, तो शायद पूरी गणना ही न कर सकें।

मनुष्य अपनी इच्छाओं का गुलाम बना रहता है और अपनी वासनाओं का दास बना रहता है। जब दास बना रहता है, तो उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करते समय कहीं-कहीं तो ठीक कदम रखता है, परन्तु प्रायः देखा जाता है कि वह अपने कदमों की जाँच नहीं कर पाता और अपने अन्ध-विश्वास से प्रेरित होकर ऐसा गलत रास्ता अपना लेता है कि सत्य की सीमा से बाहर निकल कर असत्य के क्षेत्र में जा पहुँचता है। उसका प्रभाव अपने तक ही सीमित न रहकर राष्ट्र पर भी पड़ता है।

आपको विदित है कि भारतवर्ष में हजारों देवी-देवता हैं। वे कहीं नदी के रूप में, कहीं पहाड़ों के रूप में, कहीं वृक्षों के रूप में, और कहीं-कहीं ईंटों एवं पत्थरों के रूप में विराजमान हैं। विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है, मानों भारत के अन्धविश्वासियों ने प्रत्येक ईंट-पत्थर को देवता बना लिया है, हरेक नदी-नाले को देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है और प्रत्येक पाषाण और पहाड़ को देवता के रूप में कल्पित कर लिया है।

इन तमाम देवताओं के ऊपर भारत की कितनी शक्ति व्यय हो रही है? देश की जनशक्ति का व्यय हो रहा है, धन और वैभव का व्यय हो रहा है और बहुमूल्य समय का भी व्यय हो रहा है। हज़ारों-लाखों आदमी इन देवी-देवताओं के पीछे इधर से उधर भटक रहे हैं। उनकी मनौती और आराधना के पीछे नाना प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। कुछ लोग भयभीत होकर उनकी सेवा में जाते हैं, तो बहुत से लोग लोभ से प्रेरित होकर

उनके आगे मत्था टेकते हैं। हजारों आदमी इस आशंका से कि कहीं मैं, मेरे परिवार के बच्चे, मेरी पत्नी, माता-पिता या अन्य सगे-सम्बन्धी बीमार न हो जाएँ, किसी संकट में न पड़ जाएँ, इन देवताओं की मनौती मनाते हैं।

संयोगवश, कभी कोई दुर्घटना हो गई, तो बहुत से लोग उसे दैवी प्रकोप का ही परिणाम समझ लेते हैं और फिर उसकी शान्ति के लिए देवी-देवता की पूजा और मनौती की जाती है। इसी प्रकार धन के लालच के वशीभूत होकर बहुत से लोग देवता की शरण लेते हैं। कोई-कोई सन्तान पाने की कामना से देवी की आराधना करते हैं। जैसे वे समझते हैं कि पेड़ या पाषाण के देवता के पास धन का अक्षय भंडार भरा पड़ा है और वह अपनी उपासना से प्रसन्न होकर उसके लिए अपने भंडार का द्वार खोल देगा। या देवता के पास सन्तान दे देने की शक्ति मौजूद है और मनौती मनाने से वह उसे प्राप्त हो जायगी।

इस प्रकार धन और सन्तान की अभिलाषा से, बीमारी आदि अनर्थों से बचने के लिए, सुख-सौभाग्य पाने के लिए, यहाँ तक कि अपने विरोधी का विनाश करने के लिए भी लोग देवी-देवताओं के गुलाम बने रहते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि लोग स्वयं ही देवता का निर्माण कर लेते हैं और फिर स्वयं ही उसकी पूजा करने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार नाना तरह की इच्छाओं से प्रेरित होकर हजारों आदमी देवी-देवताओं के पास भटकते हुए नजर आते हैं।

भारतीय जीवन की यह विरूपता बड़ी ही विस्मयजनक है। भारत के हजारों-लाखों वर्षों के इतिहास को देखेंगे, तो पता चलेगा कि एक ओर यहाँ उच्चकोटि का आध्यात्मिक चिन्तन जागृत था. लोग परमेश्वर का मार्ग पकड़े हुए थे और अहिंसा एवं सत्य के

मार्ग पर मजबूत कदम भी रखते थे। आध्यात्मिक जीवन का चिन्तन इतना गहरा था कि उसे नापना भी कठिन है। आपस के पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का चिन्तन भी कम गहरा नहीं रहा है। किन्तु इसके साथ ही देवी-देवताओं की भी ऐसी भरमार रही है कि सब को इकट्ठा किया जाय, तो एक बहुत विशाल सेना भी उनके सामने नगण्य जंचने लगे। इस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ असंख्य अन्धविश्वास भी हमारे देश में कदम से कदम मिलाये चलते प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार की विरोधी परिस्थिति जहाँ होती है, वहाँ विकास की, सच्चे और सर्वांगीण विकास की संभावना नहीं की जा सकती।

एक आदमी का सिर बहुत बड़ा हो जाय और शरीर का नीचे का भाग काँटे के समान बना रहे, तो वह रूप सुरूप नहीं कहलायगा। इसी प्रकार किसी के पैर भारी हो गये और हाथ तिनके की तरह रह गये, तो वह भी रूप सुरूप नहीं कहला सकता। शरीर के प्रत्येक अवयव का समान विकास होना ही सच्चा विकास है और उसी विकास में शरीर का वास्तविक सौन्दर्य है। जिस मात्रा में हाथों और पैरों का विकास हो, उसी मात्रा में मस्तिष्क का भी विकास होना चाहिए। एक अंग स्थूल और दूसरा अंग कृश हो, एक सबल और दूसरा दुर्बल हो, एक लम्बा और दूसरा छोटा हो, तो वह कुरूपता का ही द्योतक होगा। जिसे यह कुरूपता नहीं चाहिए और सुन्दरता चाहिए, उसे शरीर के सर्वांगीण विकास की ओर ही ध्यान देना होगा।

शरीर के सम्बन्ध में जो बात है, वही जीवन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मस्तिष्क को हम विचारमय जीवन का रूप दे सकते हैं और हाथों-पैरों को आचरण-जन्य जीवन कह सकते

हैं। जीवन के दोनों पक्ष समान गति से ऊपर उठने चाहिएँ। विचार की उच्चता के साथ आचार में भी उच्चता आनी चाहिए। विचार आकाश में विचरण करे और आचार पाताल लोक में भटकता रहे, तो यह जीवन की घोर विरूपता है। इससे जीवन में सुन्दरता नहीं आ सकती। इसे जीवन का वास्तविक विकास नहीं कह सकते।

एक व्यक्ति के जीवन का धार्मिक अंग विकसित हो गया है। वह सामायिक करता है, पौषध करता है और दूसरा क्रियाकाण्ड भी करता है, किन्तु उसके जीवन के दूसरे अङ्ग विकसित नहीं हुए हैं। उसका पारिवारिक रहन-सहन पिछड़ा हुआ है, दुकान में, दफ़्तर में या कारखाने में उसका जीवन कुछ और ही ढंग का है, तो नहीं कहा जा सकता कि उसका जीवन विकसित हो गया है। वह जिस सत्य की बात करता है, उसे अपने जीवन में नहीं उतारता। एक तरफ़ उसकी प्रवृत्ति भगतजी की है और यदि दूसरी ओर प्रवृत्ति शैतान की है, तो यह कैसा धार्मिक जीवन ?

कोई मनुष्य परिवार से बाहर के लोगों से मिलता है, तो दबाव से अथवा अन्य किसी कारण से शिष्ट व्यवहार करता है, मधुर वाणी का प्रयोग करता है और प्रेम से पेश आता है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों देवता हो! किन्तु जब उसी को परिवार में देखते हैं, तो जल्लाद के रूप में वह दिखाई देता है। अपनी स्त्री पर और अपने बच्चों पर अकारण क्रोध करता है और उन्हें त्रास देता है! ऐसे मनुष्य को आप क्या कहेंगे ?

दूसरा मनुष्य अपने परिवार के लोगों के प्रति मोहवशात् स्नेह और प्रेम रखता है, किन्तु बाहर दूसरों के साथ अभद्र एवं कटु व्यवहार करता है। ऐसे मनुष्य के जीवन के विषय में भी आप क्या सोचते हैं ?

पहले आदमी के विषय में यही कहा जायगा कि उसने सामाजिक दृष्टि से, बाहर में तो विकास किया है, किन्तु पारिवारिक दृष्टि से विकास नहीं किया। इसी कारण वह बाहरी लोगों के प्रति सौजन्य प्रकट करता है, पर पारिवारिक दृष्टि से उसका विकास नहीं हुआ है, वह परिवार में गड़बड़ाया हुआ रहता है। इसी प्रकार की बात, दूसरे आदमी के विषय में भी कहनी पड़ेगी। एक के पारिवारिक जीवन का विकास नहीं हुआ है, तो दूसरे का सामाजिक जीवन अविकसित है। दोनों का विकास अधूरा और एकाङ्गी है। वस्तुतः जीवन का विकास सभी दिशाओं में एक साथ होना चाहिए। क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी अंग जब पुष्ट होते हैं, तभी जीवन पुष्ट कहला सकता है। ऐसे विकास वाला पुरुष ही महापुरुष कहलाता है और वह जहाँ भी जाता है, अपनी सुगन्ध फैलाता है और जिस गली-कूचे में होकर निकलता है, अपने जीवन की महक छोड़ जाता है।

आज अधिकांश व्यक्तियों का जीवन इस रूप में विकसित नहीं देखा जाता। एक व्यक्ति बौद्धिक क्षेत्र में प्रगतिशील है और शास्त्रों की लम्बी-लम्बी बातें करता है और दर्शनशास्त्र की गूढ़ समस्याओं पर गंभीर चर्चा करता है, दार्शनिक चिन्तन और मनन में गहरा रस लेता है और दूसरी तरफ देखते हैं कि वह स्थूल शरीर की पूजा करने को भटक रहा है। कभी भैरोंजी के दरबार में पहुँचता है, तो कभी बालाजी के पास भटकता फिरता है! इस प्रकार एक ओर तो उसका जीवन इतना चिन्तन-प्रधान है, जबकि दूसरी ओर वह सर्वथा विचारहीन की तरह आचरण करता है। वहाँ उसका दार्शनिक चिन्तन न जाने कहाँ चला जाता है?

जहाँ तक दूसरों का ताल्लुक है, यह बात कुछ-कुछ समझ में आ सकती है, किन्तु जिन्हें जैनधर्म—जैसा वीतराग धर्म मिला है, वे

अगर ऐसा व्वहार करते हैं, तो कुछ समझ में नहीं आता! वीतराग देव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे न तो हमारी स्तुति से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा करने से नाराज होते हैं। वे पूर्ण रूप से मध्यस्थ होते हैं। उनकी मध्यस्थता चरम सीमा पर पहुँची होती है। एक ओर गौतम जैसे विनयवान् शिष्य हजार-हजार वन्दन करते हैं, तो भी उनका मन प्रसन्न नहीं हुआ और दूसरी तरफ गोशाला तेजोलेश्या फेंक रहा है और तिरस्कार कर रहा है, तो भी उनके अन्तरंग ने क्रोध की जरा-सी भी चिनगारी नहीं पकड़ी। उन्होंने अपने विरोधियों के प्रति भी अनुकम्पा की वही अखण्ड शीतल धारा बहाई और अपने भक्तों एवं अनुयायियों के प्रति भी दया का अजस्र प्रवाहित होने वाला स्रोत बहाया। उत्तराध्ययन सूत्र में इसीलिए कहा है:—

"वासी-चंदण-कप्पो य।"

एक ओर सज्जन आए और संभव है कि भक्ति-प्रेरित होकर वह चंदन का भी लेप करने लगे और हजारों वन्दन करे और दूसरी ओर कोई दुर्जन वसूला लेकर उस शरीर को छीलने लगे। संभव है, लकड़ी को छीलते समय वह सहम जाय, किन्तु शरीर को छीलते हुए उसे तनिक भी रहम न आये, और बेरहमी से छीलता चला जाय! ऐसी स्थिति में भी वीतराग देव दोनों के प्रति समभाव ही रखते हैं।

जो महान पुरुष वीतरागता की इस उच्चतम भूमिका पर पहुँचे और समभाव की लहर में इतने ऊँचे उठे, वे अब मोक्ष में हैं! परन्तु आज उनके अनुयायी होने का दम भरने वाले, उनके चरण-चिह्नों पर चलने का दावा करने वाले लोगों की क्या स्थिति है? वे आज कभी महावीर जी जाते हैं, भगवान् महावीर से बेटे-पोते मांगने लिए और कभी पद्मपुरी जाते हैं, पद्मप्रभु से भूत-प्रेत निकलवाने के लिए।

उनके जीवन में न जाने कितने खटराग चल रहे हैं। वीतराग के आदर्श आज पीछे रह गये हैं, वीतराग के उपदेशों को विस्मृत कर दिया गया है!

जैनधर्म ने जिन अन्ध-विश्वासों का प्रबल शक्ति के साथ विरोध किया था, जिन लोक-मूढ़ताओं के विरुद्ध बगावत की थी और जिन भ्रान्तिमय कुसंस्कारों की जड़ों में तर्क का मट्ठा डाला था और जिन चीज़ों से जैन समाज ने टक्कर ली थी, वह जैन समाज आज उन सबका शिकार हो रहा है, हो गया है। वे भी आज भगवान् के दरबार में भूत निकालने की भावना में पड़े हुए हैं।

तो, जैनधर्म विचार करता है कि आखिरकार ये चीज़ें कहाँ से आई हैं? हमारी फिलॉसफी के साथ तो इनका कोई मेल नहीं बैठता। फिर यह चीज़ें आज कहाँ से पनप रही हैं?

इसीलिए मैं कहता हूँ कि आज के जैन-जीवन की विरूपता वास्तव में विस्मय-जनक है। एक ओर बौद्धिक चिन्तन इतना ऊँचा है कि अपने विचारों का फीता लेकर सारे संसार को नाप रहा है। हम जानते और मानते हैं कि कोई भी देवता, महापुरुष या अन्य शक्ति हमारे जीवन में अगर परिवर्तन करना चाहे, तो भी नहीं कर सकती। दूसरी तरफ़ हम मामूली-सी बातों को लेकर, दीन-भाव से, अपने कष्टों को दूर कराने के लिए इधर-उधर भटकते फिरते हैं। भारत की बहुत-सी शक्ति और सम्पत्ति इसी में खर्च हो रही है और अरबों-खरबों के रूप में खर्च हो रही है। देखा जाता है कि लोग देवताओं के ऊपर मुकुट के रूप में हजारों रुपये खर्च कर देते हैं, किन्तु अपने भाई को, जिसके पास खाने, पीने और पहनने को नहीं है, एक पैसा भी नहीं दे सकते। आपको मालूम होगा कि देवताओं को, एक-एक रोज में, पाँच-पाँच सौ और

हजार-हजार रुपये का भोग चढ़ा देते हैं, किन्तु उन्हीं देवताओं के मन्दिरों के सामने भारत के नौनिहाल पैसे-पैसे के लिए हाथ पसारते रहते हैं। वे उसी देवता के बेटे-पोते हैं, भूखे-प्यासे भटक रहे हैं, पर उनकी ओर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

हम उनकी ओर गहरे दर्द की भावना लेकर सोचेंगे, तो मालूम होगा कि देश किधर जा रहा है! उसके प्रेम की लहर किधर चली गई है! भरे को और अधिक भरने का प्रयत्न हो रहा है, खाली को भरने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता।

भगवान् की स्तुति करते हैं, तो कहते हैं कि तेरे ही दिव्य प्रकाश से चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशमान हो रहे हैं, तेरी ही अलौकिक ज्योति विश्व को आलोकित कर रही है, इस प्रकार उसकी गुण-गाथा गाते हैं और फिर उसी के आगे घी के दीपक जलाते हैं और वर्षों तक जलाये चले जाते हैं। उन्हें सोचने का अवकाश ही नहीं कि जिसकी रोशनी से सूरज और चांद रोशन हैं, उसके सामने घी का एक दीपक जला देने से उसकी क्या रोशनी बढ़ जाएगी।

साधुओं के विषय में भी मालूम होता है कि जिनकी गद्दियाँ जोरदार चल रही हैं, जिनके आसपास खूब धूमधाम रहती है और जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कहीं भी कर सकते हैं, उन्हें तो हजारों आग्रह किये जाएँगे, पात्रों के लिए और वस्त्रों के लिए, किन्तु उसी सम्प्रदाय का एक छोटा साधु है, जिसने संभवतः प्रतिष्ठा की ऊँची भूमिका प्राप्त नहीं की है, वह आपके पास आता है तो उसकी आवश्यकताओं के लिए आपको सोच-विचार में पड़ जाना पड़ता है। इस प्रकार हम देख रहे हैं कि—समुद्र में वर्षा की जा रही है। जहाँ आवश्यकता नहीं है, वहाँ तो दबादब पूर्ति किये जा रहे हैं और जहाँ आवश्यकता है वहाँ पूर्ति नहीं की जा रही है।

"वृथा वृष्टिः समुद्रेषु। वृथा तृप्तेषु भोजनम्"

मैंने देखा है, जो साधु आचार-विचार में भी अच्छे हैं, किन्
जो अपने-आपमें मग्न रहते हैं और इस कारण जिन्हें समाज
ऊँचापन नहीं मिला है, उनका पात्र टूट गया, तो उसकी पूर्ति भ
मुश्किल से ही होती है। इस तरह बड़ी गद्दियों की पूजा के लि
आप आँख बंद करके हजारों-लाखों भी खर्च करते जाएँगे, किन्
गृहस्थ-समाज में, जहाँ आवश्यकता है, एक पैसा भी नहीं दें
और न साधु की आवश्यकता की ही परवाह करेंगे।

बहुत-सी संस्थाएँ हैं, जहाँ लाखों का कोष जमा पड़ा है औ
सड़ रहा है और व्याज चल रहा है। फिर भी उस संस्था को त
दान दे देंगे; किन्तु जो संस्थाएँ अर्थाभाव के कारण दबी पड़ी है
और जिसके कारण समाज का उपयोगी काम नहीं हो पा रहा है,
उन्हें देने को कोई नहीं जायगा। उन्हें एक पैसा भी देने में तन
और मन में वेदना होने लगेगी। इस प्रकार भूखे की भूख तो
मिटाई नहीं जाती और जो तृप्त है, उसे निमंत्रण पर निमंत्रण दिये
जाते हैं!

यह सब बातें बतलाती हैं कि आपका चिन्तन किस दिशा
में जा रहा है! और आपने सामाजिक ढंग पर अपना ठीक
विकास नहीं किया है।

क्या आप कभी सोचते हैं कि देवी-देवताओं के नाम पर
भारतवर्ष की जो जन-धन शक्ति बर्बाद हो रही है, उससे देश का
कोई कल्याण होता है? वह धनराशि मिट्टी में सड़-सड़ कर विनष्ट
हो रही है। उसका विवेक-पूर्वक उपयोग किया जाता, तो देश की
गरीबी दूर होने में मदद मिलती। मगर यह बात लोगों की समझ
में नहीं आती, क्योंकि मन्दिरों में जो चढ़ाया जाता है, उससे कई
गुना पाने की आशा होती है। अगर देवी का एक मन्दिर बना
दिया, तो समझ लिया जाता है कि स्वर्ग में महल मिल जाएगा।

इस स्वार्थ और प्रलोभन की भावना ने भारतीय जीवन को न प्रफुल्लित किया और न ठीक ढंग से विकसित ही होने दिया।

यह सारा चक्र आंतक प्रलोभन या भय के कारण चल रहा है; किन्तु जैन-धर्म सब से पहले इसी भय पर चोट करने आया है और कहता है—"अरे मनुष्य! डरते क्यों हो? धन चला जायगा, दुर्घटना हो जायगी अथवा मृत्यु हो जायगी; इस प्रकार की दीनता को अपने अन्तःकरण में क्यों स्थान देते हो? जीवन में जो चीजें होने वाली हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता। और जो नहीं होने वाली हैं, संसार की कोई भी ताकत उन्हें नहीं कर सकती। जैन-धर्म स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर रहा है:—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

तू ने जो भी शुभ या अशुभ कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल भोग रहा है और जैसे कर्म करेगा, वैसा फल भोगना पड़ेगा। दूसरे का दिया भुगतना पड़े, तो अपने निज के कर्म क्या निष्फल हो जाएँगे? नहीं। जो कुछ भी होने वाला है, अपने ही प्रयत्न से होने वाला है, अतः तू अपने पर ही भरोसा रख कर प्रयत्न कर।

कोई भी मनुष्य या देवता किसी के भाग्य को नहीं पलट सकता। जैनधर्म तो इन्द्र को भी चुनौती देता रहा है कि जो होने वाला है, तो तू कुछ कर सकेगा और जो नहीं होने वाला है, तो तू भी कुछ नहीं कर सकता। मगर इन्द्र और यहाँ तक कि ईश्वर को भी दी हुई चुनौतियाँ आज मिट्टी में मिल रही हैं और जैनधर्म

के अनुयायी भी आज आतंकित और भयभीत होकर पत्थरों से सिर टकराते फिर रहे हैं !

मैं शहर के बाहर गया, तो एक जगह बहुत-से लोगों को देखा। वे पीरजी के स्थान पर नमस्कार कर रहे थे और दीवार को छू-छू कर आँखों से लगा रहे थे। महीनों तक मैंने इस दृश्य को देखा। यह देखकर मैं सोचता हूँ—आखिर यह लोग किसको नमस्कार करते हैं ? जिसे नमस्कार करते हैं, उसमें क्या विशेषता थी ? किसी को कुछ पता नहीं है, परन्तु भेड़-चाल से चलते हुए माथा टेकते जा रहे हैं !

एक बार मैं मथुरा से दिल्ली जा रहा था। देखा, हजारों देहाती सड़क पर दबादब चले जा रहे हैं। पूछने पर पता चला—सती का मेला है। तब मैंने उससे पूछा—तुम हजारों की संख्या में चल पड़े हो, तुम्हें यह भी मालूम है कि सती का क्या इतिहास है ? पर किसी को कुछ भी पता नहीं। कोई नहीं जानता कि कोई सती हुई भी है या नहीं ? इस तरह न कोई भाव है, न चिन्तन है, न विचार है। फिर भी चले जा रहे हैं ! छोटे-छोटे बच्चों को गोदी में लादे आगे ही आगे बढ़ते जा रहे हैं। रास्ते में प्यासे मर रहे हैं, तो परवाह नहीं। देवता के पीछे भागे जाते हैं, देवता का भजन भी गाते जा रहे हैं कि—'टूटी की तो बूटी नाहीं।' यह सुनकर मैंने सोचा—भारत का दर्शन तो इनके दिमाग में से निकल गया है, पर आवाज वही निकल रही है कि टूटी की बूटी नहीं है। हजारों आदमी जा रहे हैं, आखिर किस उद्देश्य को लेकर ? गा रहे हैं 'टूटी की बूटी नाहीं' और टूटी की बूटी तलाश करने जा रहे हैं। सचमुच, आज भारत की विचार-शक्ति कितनी कुंठित हो गई है ?

इन देवी-देवताओं के पीछे कहीं-कहीं तो बड़ा अनर्थ हो रहा है। विजयादशमी के दिन, देवी के मन्दिरों की स्थिति देखकर किसका दिल नहीं हिल जाता? जहाँ-जहाँ काली के मन्दिर हैं, वहाँ उस दिन हजारों-लाखों बकरे और भैंसे अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं और मंदिर तथा आसपास की जमीन रक्त-रंजित हो जाती है। ऐसा करने से कोई भी उद्देश्य सिद्ध होने वाला नहीं है। केवल देवी को खुश करने के लिए ही यह जघन्य एवं अमानवीय हत्याकाण्ड किया जाता है, मगर हत्याकाण्ड करने वाले स्वयं ही नहीं जानते कि देवी की असलियत क्या है? वह कुछ है भी या नहीं?

एक दार्शनिक मुझे अपना हाल सुनाने लगे। कहने लगे—"मैं कलकत्ता गया और जब लौटने लगा तो सोचा कि काली के दर्शन तो कर लूँ! मैं काली के मन्दिर गया। काली के मन्दिर का वायुमण्डल देख कर मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मैं काली को मत्था टेकने लगा, तो पुजारी बोला—'तिलक तो लगा लीजिए।' मैंने सोचा—क्या हर्ज है! और मैंने हाँ कह दी। पुजारी खून से उँगली भर कर तिलक करने लगा। यह देख मेरा जी मिचलाने लगा, क़ै होने को हुई। मैंने पुजारी को तिलक लगाने से रोक दिया। उसने कहा—काली मैया नाराज़ हो जाएगी। मैंने उत्तर दिया—मुझे मरना मंजूर है, पर रक्त का तिलक लगाना मंजूर नहीं है।"

इस तरह हजारों आदमी वहाँ जाते हैं और उनके ललाट पर निरीह पशुओं के रक्त का तिलक लगाया जाता है। पर इस ग़लत रूप को नष्ट करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है।

अभी-अभी समाचार पत्रों में पढ़ा है कि आसाम में जो भूकंप आया, उससे कई नदियाँ सूख गईं और कई ने अपना रास्ता बदल

लिया। फिर बाढ़ आ गई। इससे लोगों ने समझ लिया कि मैया नाराज हो गई है। उन्होंने मैया को खुश करने के लिए आसपास के कुत्तों को पकड़ा और नदी में फेंक दिया और समझ लिया कि कुत्तों की बलि देने से देवी मैया प्रसन्न हो जाएगी।

इस प्रकार हमारे देश में लाखों-करोड़ों आदमी अंध-विश्वास के शिकार हो रहे हैं। हिन्दू बलि चढ़ाते हैं और मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं। माता-बहिनों में अंधविश्वास की कोई सीमा ही नहीं है। कहना चाहिए कि अधिकांश देवी-देवता इन्हीं के अंधविश्वास के सहारे पनप रहे हैं। अगर इनके हृदय से अंधविश्वास निकल जाय, तो बहुत-से देवी-देवताओं के सिंहासन आज ही हिल जाएँ। जिस दिन जैन-दर्शन का कर्म-सिद्धान्त उनके हृदय में बैठ जायगा और वे समझ जाएँगे कि—

> 'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
> परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।'

कोई भी शक्ति हमें सुख या दुःख नहीं पहुँचा सकती। हम जो कर्म बाँध कर आये हैं, उनके विपाक को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। हमारा भला-बुरा हमारे और सिर्फ हमारे ही हाथ में है, हमारे ही कर्मों के अधीन है; इस प्रकार की मनोवृत्ति जब मनुष्य में जागृत हो जाएगी, तो देवताओं के सिंहासन खड़े नहीं रह सकेंगे।

उत्तरप्रदेश में, मुजफ्फर नगर जिले में मेरा चौमासा था। भाद्रपद महीने के शुक्ल पक्ष की दशमी थी। उस दिन एक गृहस्थ ने एक बच्चे को लेकर कत्ल कर दिया और उसके खून से दो बहिनों ने स्नान किया। उन्हें लड़के की चाहना थी और उन्हें बतलाया गया था कि पवित्र धूप-दशमी के दिन लड़के के खून से स्नान करने से लड़का हो जाता है। जब उस कत्ल की बात प्रकट हो गई, तो

इस अंधविश्वास की बदौलत उन्हें जन, धन, वैभव और प्रतिष्ठा से हाथ धोना पड़ा। अन्धविश्वास जब अन्तःकरण में छा जाता है, तो मनुष्य को कहीं से भी रोशनी नहीं मिलती, उसका विवेक नष्ट हो जाता है, विचार-शक्ति समाप्त हो जाती है और वह जघन्य से जघन्य कार्य करते भी नहीं हिचकता।

बालक की हत्या करने वाला वह गृहस्थ जैन कहलाता था। उसने जैनधर्म पाकर भी क्या किया? जैनधर्म की फिलॉसफी डंके की चोट कहती है कि तुम्हारे कर्मों के प्रतिकूल देवराज इंद्र भी कुछ नहीं कर सकता, यहाँ तक कि ईश्वर भी कुछ नहीं कर सकता, परन्तु अन्धविश्वासी को इतना विचार और विवेक कहाँ? जो एक कीड़े की भी हिंसा करना पाप समझता है, वही अन्ध-विश्वास की बदौलत, सन्तान-प्राप्ति के लोभ में पड़कर ऐसा घोर दुष्कृत्य करने को तैयार हो गया।

कहाँ तो जैनधर्म का यह आदर्श कि तू स्वयं अपने भविष्य का निर्माता है, तेरे भविष्य का निर्माण करने में कोई भी दूसरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती, और कहाँ आज के जैनसमाज की हीन मनोदशा। शास्त्र घोषणा करता है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

—उत्तराध्ययन

आत्मा स्वयं ही अपने दुःख-सुख का सर्जन करता है और स्वयं ही उनका विनाश कर सकता है। आत्मा स्वयं ही अपने भविष्य को बनाता और बिगाड़ता है। उसके भाग्य के बहीखाते पर दूसरा कोई भी हस्ताक्षर करने वाला नहीं है। जैनधर्म का यह उच्च और भव्य सन्देश है।

जिस जैनधर्म की इतनी ऊँची दृष्टि रही है और इतना ऊँचा इतिहास रहा है, उसी धर्म को मानने वाले जब अन्धविश्वास में फँस जाते हैं और गंडे-तावीज में विश्वास करने लगते हैं, और उनके लिए इधर-उधर मारे-मारे भटकते हैं, तो खेद और विस्मय की सीमा नहीं रहती।

जब इन सब चीजों को देखते हैं, तो पता चलता है कि यह सब क्या हैं? भगवान् महावीर का क़दम किधर पड़ा था और हमारा किधर पड़ रहा है? ऐसा मालूम होता है कि पूर्व और पश्चिम का अन्तर पड़ गया है।

भगवान् महावीर का इतिहास आपके सामने है। उन्होंने जब दीक्षा ली, संसार छोड़ा, महलों को छोड़ा, वह महान् साधक जब सोने के महलों से बाहर निकल पड़ा, तो एक क्षण के लिए भी उसने फिर उनकी ओर झाँक कर नहीं देखा और अपने जीवन की राह को तय करते हुए आगे बढ़ा और बढ़ता ही चला गया।

भगवान् एक बार जंगल में ध्यान लगाये खड़े थे। एक ग्वाला उनके पास आया। उसके गाय-बैल वहीं पास में चर रहे थे और उसे पास के किसी गाँव में जाना जरूरी था। उसने भगवान् से कहा—'मेरी गायें चर रही हैं। इन्हें जरा देखते रहना। मैं गाँव में जाकर आता हूँ।'

वे महान् पुरुष अपनी आत्मा में रमण कर रहे थे। उनकी समग्र चेतना अन्तर्मुखी हो रही थी। अतएव हाँ या ना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। वे मौन रहे। ग्वाला कहकर चला गया और जब लौट कर आया, तो गायें चरतीं-चरतीं इधर-उधर चली गई थीं। किसी टीले की आड़ में आ जाने से उसे दिखाई नहीं दीं। जब उसे गायें दिखाई न दीं, तो वह भगवान् से पूछने लगा-कहाँ गईं गायें? कोई चुरा ले गया है?

भगवान् फिर भी मौन ! साधना में निमग्न ! उन्हें अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् में कहाँ आना था !

जान पड़ता है कि वर्तमान काल की तरह उस काल में भी दूसरे साधुओं का जीवन अच्छा नहीं था। जैसे आज शरीर पर भभूत रमा लेने वाले और सिर पर लम्बी-लम्बी जटाएँ बढ़ा लेने वाले लोग अविश्वास के पात्र बन गये हैं और उनकी बदौलत साधु-मात्र को कभी-कभी अविश्वास-भाजन बनना पड़ता है। उस समय भी ऐसी ही कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। कुछ लोग साधु का वेष धारण करके जब अनाचार और दुराचार में प्रवृत्त हो जाते हैं, तो भले साधुओं को भी उनकी करतूतों का फल भुगतना ही पड़ता है। इस रूप में यह जीवन भी अनेक घटनाओं को भोगे हुए है। अमुक जगह जाते हैं और पूछते हैं तो उत्तर मिलता है—यहाँ जगह नहीं है। मालूम करते हैं, तो लोग बतलाते हैं—एक चोरी करके भाग गया और दूसरा लड़की को उड़ा कर ले गया ! जब इस प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं, तो सोचते हैं—इन लोगों का साधुओं के संबंध में अनास्था पैदा हो गई है, तो इसमें इनका अपराध नहीं। इनकी दृष्टि में वे भी साधु थे और हम भी साधु हैं। एक धूर्तता का व्यवहार कर गया, तो हमें भी उसका फल भोगना होगा ! यह तो जाति का दोष है !

हाँ, तो उस समय भी कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति रही होगी। उस ग्वाले को भगवान् पर अविश्वास हुआ। उसने सोचा—इसी ने मेरी गायों को इधर-उधर कर दिया है !

ग्वाला महाप्रभु को मारने-पीटने पर आमादा हो गया। वह पशु की तरह उन्हें पीटने लगा। किन्तु भगवान् देह में रहकर भी देहातीत दशा का अनुभव कर रहे थे। उनका समभाव अखण्ड था। गंभीर, धीर और शान्त भाव से वे ग्वाले की मार सहन कर रहे थे।

इसी समय इन्द्र वहाँ आ पहुँचता है। आग की तरह क्रोध से जलता हुआ इन्द्र, ग्वाले को मारने के लिए उद्यत होता है। तब भगवान् का मौन भंग हुआ। वे बोले—"इसे क्यों मारते हो? यह बेचारा तो अज्ञान है। इसे मारने से समस्या हल हो जाएगी क्या? समस्या तो तब हल होगी, जब जगत् को हम जीवन का सत्य देंगे, जनता को विश्वास आएगा। इसे मारने-पीटने से कुछ भी लाभ न होगा।"

इन्द्र चकित और स्तंभित रह गया। उसने कहा—"प्रभो! इसे तो छोड़े देता हूँ, किन्तु आपको तो बड़े-बड़े कष्ट भोगने हैं। जनता की मनोवृत्ति बड़ी विकट है। आप जहाँ कहीं जाएँगे, ज़हर के प्याले पीने को मिलेंगे। शूली की नोंक तैयार मिलेगी और आप का जीवन क्षत-विक्षत हो जाएगा। यह मुझसे सहन न होगा। अतः मैं आपके श्रीचरणों में रहूँगा और आपकी सेवा करूँगा। आपके ऊपर जो आपत्तियाँ आएँगी, उनका निवारण करूँगा और आपके गौरव को सुरक्षित रक्खूंगा।"

इन्द्र को भगवान् ने जो उत्तर दिया, वह मानव-जाति के लिए एक महान् सन्देश बनकर रह गया। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में विद्वान् पुरुष उसे बार-बार दोहराते आते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—

इंदा! न एवं भूयं, न एवं भविस्सइ,
न एवं भविउमरिहइ।

इन्द्र! तुम जो कह रहे हो, ऐसा कभी हुआ नहीं और अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी कभी होगा नहीं और ऐसा होना भी नहीं चाहिए।

और—

'स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्।'

तीर्थंकर अपने ही पराक्रम से परम पद को प्राप्त करते हैं। वे किसी की दया पर निर्भर नहीं रहते।

कोई भी साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, कोई भी अर्हन्त अथवा तीर्थंकर दूसरों की सहायता भी ले, दूसरे के द्वारा अपने जीवन के चारों ओर रक्षा की दीवारें भी खड़ी करे और उनके बीच-बीच में होकर चले और फिर केवल ज्ञान भी प्राप्त कर ले! यह कभी हुआ नहीं, होगा भी नहीं और वर्तमान में भी नहीं हो सकता। कोई भी साधक अपने ही पुरुषार्थ से, प्रयत्न से, अपनी ही साधना से अपने बंधनों को तोड़ता है और शाश्वत स्वाधीनता प्राप्त करता है।

परमुखापेक्षा या परावलम्बन अपने-आपमें एक प्रकार का दुःख है। उससे अन्तःकरण में दीनता का भाव उत्पन्न होता है। जिसमें दीनता है, वह ऊँचा नहीं उठ पाता, नीचा ही दबा रहता है। उसकी अपनी शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। शक्तियों के विकास के लिए जीवन में संघर्ष चाहिए, संघर्ष में अचलता चाहिए और उस अचलता में गौरव अनुभव करने की मनोवृत्ति चाहिए।

भगवान् कहते हैं—इन्द्र। तुम कुछ नहीं कर सकते। मैं स्वयं कष्टों को भोगूँगा—अपना विकास आप ही करूँगा। मुझे परकीय सहायता की अपेक्षा नहीं है। जहाँ आत्म-बल के प्रति अनास्था है, वहाँ दुर्बलता है, और जहाँ दुर्बलता है, वहाँ विकास की संभावना नहीं है!

साढ़े बारह वर्ष तक भगवान् का जीवन घोर संकटों में उलझा रहा, दुःखों की आग से खेलता रहा। दुःखों के पहाड़ उन पर गिरे, किन्तु उनके मस्तक में कम्पन की एक रेखा तक भी नहीं उभर सकी। देवी और देवता भी उन्हें डिगाने आये। मनुष्यों और पशुओं ने भी उन्हें त्रास दिया और ऐसा मालूम होता है कि

उनका सम्पूर्ण साधना-काल दुःखों की भट्टी में झुलसता रहा। मगर उनका जीवन उस आग में पड़कर सुवर्ण की तरह निर्मल ही होता गया, उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनता गया। उनका आत्म-बल नष्ट होने पहले लगातार समृद्ध ही होता चला गया !

तो, कहाँ तो साक्षात् देवाधिपति इन्द्र प्रत्यक्ष सेवा में उपस्थित होता है, किन्तु भगवान् कहते हैं कि हम अपने जीवन का निर्माण स्वयं ही करेंगे, और कहाँ यह कल्पित देवी-देवता, जिनके आगे उनके अनुयायी भी मत्था टेकते फिरते हैं।

हजारों की संख्या में यह देवी-देवता इस देश पर छाए हुए हैं। इनके मन्दिर न जाने कितनी बार बने और बिगड़े, और न जाने कितनी बड़ी धनराशि उन पर व्यय हुई है। किन्तु, वे कुछ भी काम नहीं आ रहे हैं। अनगिनत पीर और पैगम्बर हैं। देश पर महान् संकट आये, माताओं और बहनों की बेइज्जती हुई, हजारों का कत्ल हुआ, देश का अङ्ग-भङ्ग हुआ, मगर इन देवी-देवताओं के कान पर जूँ तक न रेंगी; किसी ने करवट तक भी न बदली। आखिर, यह सब किस काम के हैं !

जैन-धर्म देवी-देवताओं के अस्तित्व से इंकार नहीं करता, पर जिस रूप में जन-साधारण में इनकी मान्यता हो रही है और जिस रूप में लोगों में इनके प्रति अन्धविश्वास जमा हुआ है, वैसा रूप कहीं किसी शास्त्र में नहीं है।

तो, मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि यह अंधविश्वास असत्य पर आश्रित है ! इस असत्य ने जनता में व्यापक रूप धारण कर रक्खा है। असत्य बोलने वाला कदाचित् सम्यग्दृष्टि रह सकता है। परन्तु, अन्धविश्वासों में तो सम्यग्दर्शन की भी संभावना नहीं है। समाज के कल्याण के लिए इस अन्धविश्वास पर चोट पड़ने की नितान्त आवश्यकता है। इस अन्धविश्वास को दूर किये बिना कोई सत्य की आराधना नहीं कर सकता।

अन्ध-विश्वास

(२)

सत्य हमारे जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। हमारे जीवन की जितनी भी साधनाएँ हैं, उन सब में सत्य का सामंजस्य होना नितान्त आवश्यक है। सत्य साधना का प्राण है। साधना का प्राण—सत्य जिन साधनाओं में आकाश की भाँति व्याप्त है, वही सच्ची साधनाएँ हैं, जिनमें सत्य की व्याप्ति नहीं, उन साधनाओं में प्राण नहीं है, वे निष्फल हैं। ऐसी साधनाएँ जिस उच्च उद्देश्य से की जाती हैं, उसे सफल नहीं बना सकतीं।

मान लीजिए, एक श्रावक सामायिक करता है और जब करता है, तो उस समय उसका मन भी, वचन भी और काया भी अहिंसा और सत्य में रमण करते हैं और जब तक रमण करते हैं तभी तक वह सामायिक सच्ची सामायिक है। इसके विपरीत, मन, वचन और काया यदि और ही कहीं भटक रहे हैं और तीनों में एकरूपता कायम नहीं हो पाई है, तो सामायिक सच्ची साधना नहीं है। साधक को उसकी सच्ची रोशनी नहीं मिल पाती है।

तपश्चरण के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारे समाज में बहुत लम्बे-लम्बे तप किये जाते हैं और लम्बी-लम्बी साधनाएँ की जाती हैं। कल एक सज्जन ने कहा—'क्या बात है कि पहले के युग में तो एक तेला करते ही देव भागे चले आते थे और

मनुष्य के मन में एक आध्यात्मिक राज्य कायम हो जाता था और एक बहुत उच्च चिन्तन चल पड़ता था। तीन दिन की साधना इतनी बड़ी साधना थी कि इन्द्र का भी आसन डोलने लगता था। किन्तु, आज इतनी बड़ी-बड़ी तपस्याएँ होती हैं, फि भी इनमें से कुछ भी नहीं होता है।'

ऐसा कहने वाले सज्जन बूढ़े थे। उनकी बात सुनकर मैंने सोचा--इनके मन में भी तर्क ने प्रवेश कर लिया है और इनके मन में भी गुत्थी को सुलझाने की कोशिश हो रही है। वास्तव में इनको हक़ है कि वे चिन्तन करें, विचार करें और अपने मन का समाधान प्राप्त करें।

मैंने सहज भाव में कहा—इस युग की बातें और उस युग की बातें कोई अलग-अलग नहीं हैं। ऐसा तो नहीं है कि पुराने युग में तपस्या कुछ और रंग रखती थी और आज के युग की तपस्या कुछ और रूप रखती हो। तपस्या तो तपस्या है और वह हर समय और हर जगह सुन्दर होनी चाहिए। यह नहीं हो सकता है कि सौ वर्ष पहले मिश्री मीठी लगती थी और आज कड़वी लगती हो या आज मीठी है और सौ वर्ष बाद कड़वी लगने लगेगी। मिश्री तो अपने-आपमें मिश्री है। उसकी प्रकृति नहीं पलट गई है। यदि मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक है, तो मिश्री मीठी ही लगने वाली है। वह अब भी मीठी है और आगे भी मीठी ही रहेगी।

इसी प्रकार हमारी साधनाओं का स्वभाव समय के पलट जाने पर भी पलट नहीं सकता। युग बदलते रहते हैं, फिर भी प्रत्येक वस्तु का स्वभाव स्थिर ही रहता है। ऐसा है, तभी तो शाश्वत धर्म की कल्पना है। अन्यथा विभिन्न युगों के तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट साधनाओं में एकरूपता की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। फिर तो जितने तीर्थंकर, उतनी ही तरह की साधनाएँ

भी होतीं। मगर ऐसा हुआ नहीं, होता भी नहीं। इसी कारण हम कहते हैं कि हमारी आध्यात्मिक साधनाओं की रूप-रेखा महावीर स्वामी ने नहीं बनाई; वह तो सनातन है और जब-जब भी कोई तीर्थंकर होंगे, इन्हीं साधनाओं के रूप में वे मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन करेंगे।

वस्तु का स्वभाव युग के साथ बदलता होता, तो हजारों वर्षों पहले लिखे हुए आयुर्वेद आदि के ग्रन्थ इस युग में हमारे क्या काम आ सकते थे ? समस्त दर्शन-शास्त्र भी आज हमारे लिए अनुपयोगी होते। दुनिया ही उलट-पलट हो गई होती।

सत्य युग के आश्रित नहीं है। देश और काल उसे प्रभावित नहीं कर सकते। वह शाश्वत धर्म है। अक्षय है, अनन्त है और अपरिसीम है। दिन की जगह रात और रात की जगह दिन हो जाता है, मगर यह सत्य का ही प्रभाव है। सत्य सदैव सत्य है। अतएव जो बात आज सत्य है, वह कल भी सत्य थी और आगे भी सत्य ही रहेगी।

अभिप्राय यह है कि तपस्या में अगर मन, वचन और काया की एकरूपता है—सचाई है, तो वह रंग लाएगी ही। प्राचीनकाल में वह रंग लाती थी, तो कोई कारण नहीं कि आज उसका स्वभाव या प्रभाव बदल जाय ! और यदि कहीं पर विकार पैदा हो गया है, गड़बड़ हो गई है और मन, वचन, काया की एकरूपता नहीं सध रही है, तो इसका अर्थ यह है कि वह तपस्या अपने-आपमें सत्य नहीं है, और जब तपस्या सत्य नहीं रही है, तो उसकी मिठास प्राप्त नहीं होगी।

आजकल तपस्या के सम्बन्ध में हमारी विचारधारा गलत बन गई है। जब कोई तपस्वी तपस्या करता है और वह दूर तक चला जाता है, तो उसमें कुछ क्रोध और चिड़चिड़ापन मालूम होता है।

तपस्या के साथ-साथ आवेश भी बढ़ता जाता है। जब यह चीज आ जाती है, तो फिर चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, लोग एक समझौता कर लेते हैं और बातें करते हैं कि तपस्या करने पर क्रोध आ ही जाता है। क्रोध आ रहा है, तो कहते हैं कि क्रोध तो आएगा ही, आवेश तो आएगा ही, क्योंकि आखिरकार तपस्या जो ठहरी !

जब क्रोध और तपस्या का इस प्रकार मेल बिठलाया जाता है, तो मैं सोचता हूँ—आखिर बात क्या है ? क्या तपस्या के साथ क्रोध का आना आवश्यक है ? तपस्वी का क्रोधी होना अनिवार्य है ? तपस्या ज्यों-ज्यों लम्बी होती जाएगी, क्रोध क्या उतना ही उतना बढ़ता जाएगा ? हमारे शास्त्र और आचार्य तो ऐसा नहीं कहते। यही नहीं, उन्होंने तो इससे उलटी ही बात कही है। वे कहते हैं—

कषाय - विषयाहार - त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लङ्घनकं विदुः॥

कषायों का, इन्द्रियों के भोगों का और आहार का जहाँ त्याग किया जाय, वहीं सच्चा उपवास है। अगर कषाय-विषय का त्याग नहीं हुआ है और केवल खाने-पीने का ही त्याग किया गया है, तो उसे लंघन कह सकते हैं, उपवास नहीं कह सकते।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सबसे पहले कषाय का त्याग करना आवश्यक बतलाया गया है और कषायों में सबसे पहले क्रोध का नंबर आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि क्रोध का त्याग किये बिना उपवास, उपवास ही नहीं कहला सकता। ऐसी स्थिति में क्रोध को तपस्या का अनिवार्य अंग मान लेना अभ्रान्त कैसे कहा जा सकता है ?

क्रोध, तपस्या का आवश्यक अंग या परिणाम होता, तो भगवान् महावीर की साधना में क्यों नहीं बढ़ा ? उनका आवेश क्यों नहीं बढ़ा ? भगवान् जिस किसी साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े, उसकी चरम सीमा पर पहुँचे, तपस्या के मार्ग में अग्रसर हुए तो छह-छह महीने तक निराहार रहे, उन्होंने देवी-देवताओं और मनुष्यों के भी उपसर्ग सहे, किन्तु सब कुछ सहने के बाद भी हमें इतिहास में देखने को मिलता है कि उनकी दया और प्रेम का लहराता हुआ समुद्र ही बनता गया। उन्होंने कहीं भी, लेशमात्र भी क्रोध या आवेश को जगह नहीं दी। यदि तपस्या के साथ क्रोध या आवेश जरूरी है, तो वह सब जगह होना चाहिए और पहले भी होना चाहिए था। जब हम ऐसा नहीं देखते, तो यह ।नते हैं कि ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

तप और क्रोध या आवेश का साहचर्य मान लेना हमारा ।म है और एक प्रकार का असत्य है। जब तक हमारी साधना ' रस नहीं आया है, हम साधना में घुल-मिल नहीं गये हैं और हरा प्रवेश नहीं कर पाते हैं, तभी तक क्रोध और आवेश रहता । अतएव इस धारणा के मूल में भूल है और जब तक उस ूल को दुरुस्त नहीं कर लिया जाता, जीवन का वास्तविक वेकास नहीं हो सकता। तपस्या में जब सत्य का समन्वय होगा, ।भी उसमें बल और शक्ति का संचार होगा।

इसी प्रकार हमारे जीवन की जो दूसरी साधनाएँ हैं, उनमें ी सत्य को तलाश करना होगा। साधना चाहे साधु की हो या ृहस्थ की, सत्य के प्राण आये बिना वह निर्जीव ही रहने वाली ै। साधक को विचार करना पड़ेगा कि बाहर से वह आगे बढ़ रहा है, तो अन्दर में क्यों पिछड़ रहा है ? बाहर में जितनी दूर चले गये हैं, अन्दर में उतनी दूर क्यों नहीं पहुँच सके ?

आम तौर पर देखा जाता है कि साधक बाहर के वातावरण में तो बाजी मार ले गये, किन्तु अन्दर की जिन्दगी को उस ओर मोड़ने में, मन को उस मार्ग पर चलाने में जैसे लड़खड़ा जाते हैं, उस समय पता चलता है कि वे कितने गहरे पानी में हैं ?

साधु-जीवन की ही बात लीजिए। एक साधु साधना के पथ पर चलता दिखाई देता है, और अपने जीवन के ५०–६० वर्ष उसी पथ पर चलता रहता है, किन्तु जीवन की अन्तिम घड़ियों में वह जब मरने से डरता है लड़खड़ाता है और खाने-पीने के लोभ को भी नहीं छोड़ पाता है, तो मालूम हो जाता है कि इतने वर्षों तक उसका जीवन कहाँ चला है ? अन्दर में चला या बाहर बाहर में ही ?

जीवन जब बहिर्मुख होकर ही चलता है और अन्तर्मुख नहीं होता, भीतर रोशनी नहीं होती, तो वह खिल नहीं सकता। बाह्य साधना के साथ अन्दर में प्रकाश आना ही चाहिए, संकट के समय में भी चेहरे पर मुस्कराहट खिलनी ही चाहिए। कितने ही द्वन्द्व हों, आवेश नहीं आना चाहिए। साधक का बहिरंग और अन्तरंग एकाकार हो जाना चाहिए। हरेक जगह वह जीवन को समभाव में स्थिर रख सकता हो, तो समझना चाहिए कि उसे जीवन का मिठास प्राप्त हो रहा है।

साथी होंगे, सम्प्रदाय के लोग होंगे पड़ौसी होंगे और जीवन के द्वन्द्व भी चलते ही रहेंगे। क्या हम इन सबको फेंक दें ? फैंकने का विधान तो है, किन्तु जल्दी नहीं फैंके जा सकते। अतएव इन सब को ढोना है और समभाव के साथ ढोना है। इन सबके निमित्त से समभाव की लहर भीतर उत्पन्न करनी है।

हमारे यहाँ एक वैष्णव सन्त की कहानी है। एक सन्त और उनकी पत्नी दोनों दो राहों पर चल रहे थे। पत्नी अत्यन्त क्रोध-

शीला थी और बात-बात में लड़ने लगती थी। पति बहुत शान्त प्रकृति के थे। उस सन्त को लोग भक्त तुकाराम के नाम से जानते हैं।

उस घर की बातें बाहर फैली, तो लोग तुकाराम से पूछते—क्या हो रहा है आपके घर में ? वे उत्तर देते 'प्रभु का वरदान मिला है, और प्रभु की अपार कृपा हो गई है कि हमारे घर में अनमेल आदमी इकट्ठे हो गए हैं। खुद किधर चलते हैं, पत्नी किधर चलती है और बच्चे किधर ही जाते हैं।'

लोग इस उत्तर से चकित होकर पूछते—इसे आप प्रभु की अपार अनुकम्पा क्यों समझते हैं ? तब वे कहते—'घर की इन परिस्थितियों में मुझे अपने को परखने का और जाँचने का अच्छा मौका मिलता है। बाहर में कोई अनमेल आदमी मिलते, तो साल में दो-चार बार ही मिलते और दो-चार बार ही परीक्षा हो पाती, परन्तु जब घर में ही यह हालत है, तो कदम-कदम पर परीक्षा देनी पड़ती है और सोचना पड़ता है कि मैं कहाँ हूँ और मैंने जीवन में कोई तैयारी की है या नहीं।'

एक बार तुकाराम कहीं बाहर गये थे। किसी किसान ने उन्हें एक गन्ना दे दिया। बाल-बच्चों के घर में एक गन्ना काफ़ी नहीं था। जरूरत ज्यादा की थी। अतएव जब वे एक गन्ना लेकर घर पहुँचे और अपनी पत्नी से बोले—'लो, यह गन्ना लाया हूँ।'

उनकी पत्नी को क्रोध आ गया। वह बोली—'बड़ी कमाई करके लाये हो। मानों हीरों का हार दे रहे हो। सुबह से निकले और दोपहर पूरी कर दी। और कुछ तो मिला नहीं, एक गन्ना मिला है।'

तुकाराम ने शान्त भाव से कहा—'किसी ने दे दिया, तो ले लिया। कुछ न कुछ तो मिला ही है। यह बहुत मीठा है।'

पत्नी ने क्रोध में आकर गन्ना ले लिया और उनकी पीठ पर दे मारा। गन्ने के तीन टुकड़े हो गये।

तीन टुकड़े देख तुकाराम ने कहा—"बँटवारा अच्छा हो गया। नहीं तो हमको तीन टुकड़े करने पड़ते। यह तो अपने आप तीन हिस्से हो गए—एक तुम्हारा, एक मेरा और एक बच्चे का।"

यह है समभाव और यही है मन में डुबकी लगाना। जीवन जब अन्दर विकसित होता है, तो बाह्य प्रकृति पर उसका प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। संत के जीवन के अन्तरतर में जो लहरें उठती थीं, तो उनकी पत्नी भी आखिर उसी बहाव में बह गई और उन्हीं के विचारों में ढल गई। वह संघर्ष, जो उग्र रूप में चल रहा था, मिठास के रूप में नजर आने लगा।

तो मैं सोचता हूँ कि जो मन, वाणी और आचरण में सच्चा है, उसके जीवन की कला इतनी सुन्दर होगी और वह इतना ऊँचा चढ़ता हुआ मालूम होगा। किन्तु साधना में ५०-६० वर्ष व्यतीत कर देने पर भी, छोटी-छोटी बातों में भी छल, कपट और धोखा देने की वृत्ति बनी रहती है और दूसरों की तरक्की देख कर ईर्ष्या होती है और झूठे हथकंडों के द्वारा दूसरों को नीचे गिराने का प्रयत्न किया जाता है, तो वहाँ जीवन की सुन्दर मिठास कहाँ है ?

हे साधक! तूने अपने जीवन के पचास वर्ष तो बाहरी कड़क के साथ गुज़ारे; किन्तु अन्दर में वह कड़क नहीं रक्खी है। तभी तो पचास साल के बाद भी सांप की तरह ज़हर उगलता है, फुङ्कार मारता है और जीवन में से दुर्गन्ध तथा कड़कवास निकलता है।

यह स्थिति है तो विचार करना पड़ेगा कि आन्तरिक जीवन का मेल नहीं बिठलाया गया है और जब तक वह मेल नहीं बिठलाया जाता, तब तक वह सत्य नहीं आ सकता।

सत्य की उपलब्धि के लिए वहम का त्याग देना आवश्यक है। दुर्भाग्य से श्रावकों में और साधुओं में भी वहम घुसे हुए

हैं। साधुओं को एक वहम यह है कि हमने मुनि-दीक्षा ले ली और बात पूरी हो गई। सिर मुंडाया और सिद्धि प्राप्त हो गई। दीक्षा ले लेने के पश्चात् विकास के लिए न कोई अवकाश है, न कोई आवश्यकता ही है। 'अप्पाणं वोसिरामि' कहते ही साधुता आ जाती है। यह एक बड़ा खतरनाक भ्रम है।

दीक्षा लेने का अर्थ प्रतिज्ञा लेना है। एक आदमी सेना में सैनिक के रूप में भर्ती होता है। तो कहने को तो भर्ती हो जाता है, पर वह सच्चा सैनिक बना है या नहीं, इस बात की परीक्षा तो समरांगण में ही होगी। अगर वह लड़ाका सैनिक पुर्जे-पुर्जे कट मरेगा, किन्तु मोर्चे को नहीं छोड़ेगा, तब उसकी परीक्षा पूर्ण हो जायगी। वह सच्चा सैनिक कहलाएगा।

इसी प्रकार किसी ने श्रावक या साधु के व्रत अंगीकार कर लिए, तो इससे क्या हो गया? यह तो प्रतिज्ञा-मात्र होती है। इसके बाद जब विचारों से संघर्ष करते हुए आगे चलते हैं, तब मालूम होता है कि हम हार रहे हैं या जीत रहे हैं, आगे बढ़ रहे हैं या पीछे हट रहे हैं, हम मुँह की खा रहे हैं या अपना झंडा गाड़ रहे हैं? जब हम इस प्रकार विचार करते हैं, तो पता चलता है कि जीवन का आदर्श क्या है? उसी आदर्श की प्राप्ति के लिए निरन्तर आगे बढ़ते जाने में, सच्ची साधुता है! यहाँ साधुता की परीक्षा होती है। जो इस परीक्षा में सफल होता है, वही सच्चा साधु है।

सत्य की प्राप्ति के लिए वहम-मात्र का त्याग कर देना आवश्यक है। और वहमों का त्याग करने के लिए उनके कारणों को जाँचने और परखने की जरूरत है। देखना होगा कि आखिर, वहम जीवन की किस दुर्बलता में से जन्म लेते हैं?

विचार करने से पता चलेगा कि वहम के प्रधान कारण भय और लालच हैं। साधना के संबंध में अथवा जीवन-व्यवहार के संबंध में जो भी वहम हैं, उनका मूल स्रोत यही है। जब मनुष्य भय से घिर जाता है, तो कोई न कोई कल्पना कर लेता है और उस कल्पना के लोक में दूर तक चला जाता है और सत्य से इन्कार कर देता है। इसी प्रकार जब यश और प्रतिष्ठा का लोभ होता है और वह लोभ इंसान की जिंदगी को चारों ओर से घेरे रहता है, तो ऐसा मालूम होता है कि उसका जीवन चल रहा है; मगर चलता है वह तेली के बैल की तरह। तेली का बैल सवेरे से शाम तक चलता है और उसकी हड्डी-हड्डी दुखती रहती है। वह समझता है, जैसे दस-बीस कोस चला गया है। किन्तु आँख की पट्टी खुलती है, तो उसे वे दस-बीस कोस घर में ही मालूम होते हैं।

सत्य से विलग साधक की भी यही स्थिति है। वह पचास-साठ साल तक चलता रहता है, किन्तु जब आँख की पट्टी खुलती है और अज्ञान का पर्दा हटता है, तो मालूम होता है कि मैंने कोई प्रगति नहीं की है और मैं जहाँ का तहाँ खड़ा हूँ।

इस प्रकार न केवल कुछ व्यक्तियों का ही, वरन् सारे समाज का जीवन तेली के बैल की तरह दलदल में फँस गया है। जीवन में सचाई को ढालने का कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

छोटा बालक बाहर निकलता है और खेल कर वापिस आता है। कदाचित् उसे ज्वर आ गया और अधिक गर्मी के कारण बकने लगा, तो बस, वहम आ घेरता है। उसकी गर्मी कम करने का तो कोई प्रयास नहीं किया जाता और ज्वर उतारने की दवा नहीं दी जाती। कहा जाता है कि बच्चा अमुक के घर गया था, तो उसकी नजर लग गई। यह अमुक के घर से बीमार

होकर आया है। बस, इस प्रकार मन में एक ज़हर की गाँठ पैदा हो जाती है और नया पाप खड़ा हो जाता है।

विचारवान् लोगों के सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है कि किसी के बालक को प्यार करे या न करे? उसकी तारीफ करे या न करे? यदि निन्दा की जाय कि यह तो गंदा है, खराब है, तब भी लोग लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं और कहते हैं—हमारे बच्चे को गंदा क्यों कह दिया? हमारा बालक तुम्हें सुहाता नहीं! बच्चे के प्रति भी ईर्ष्याभाव रखते हो? हमारे बालक का तिरस्कार करते हो? और यदि बच्चे को साफ-सुथरा देखकर कोई कहता है—कैसा भला, खूबसूरत और साफ मालूम होता है। तब भी लोगों को सहन नहीं होता। बच्चे की प्रशंसा को वे नज़र लगाना समझते हैं। अब इसका फैसला भी क्या है? निन्दा करते हैं तो भी आफ़त और प्रशंसा करते हैं तो भी मुसीबत।

यह सब वहम हैं। ये नज़रें क्यों लग जाएँगी? यदि जीवन में बल और शक्ति का स्रोत बह रहा है, तो मनुष्य की आँखें तो क्या हैं, राक्षसों की आँखें भी घूरेंगी, तो भी कुछ नहीं होने वाला है। दुनिया-भर के देवता मिल कर भी कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे। सत्यमय जीवन तो यमराज की आँखों को भी चुनौती देने वाला है।

उपनिषद् में एक कहानी आती है। एक लड़के की यमराज से भेंट हुई। वह स्वयं यमराज के दरवाजे पर पहुँच गया और जब यमराज सामने आ गया, तो लड़का खिलखिला कर हँसा और बोला—'मुझे गोदी में ले लो।'

यमराज ने लड़के को हँसते-मुसकराते देखा, तो उसकी क्रूरता और निर्दयता न जाने कहाँ गायब हो गई? उसने बालक को

हाथों पर उठा लिया। उसकी ओर दुलार की आँखों से देखा और बोला—'वत्स! तुम्हारा मुँह तो ऐसा चमकता है, जैसे किसी ब्रह्म के जानने वाले ज्ञानी का चमकता हो।'

तो, बात यह है कि यमराज मिले तो क्या और मृत्यु का दूत मिले तो क्या? यदि आप रो पड़े हैं, तो संसार भी रुलाएगा; यदि आपके अन्दर भय आया है, तो संसार भी भयभीत करेगा और आपके रोने में आनन्द मनाएगा। और यदि आपके भीतर शक्ति है, तो यमराज के आगे भी मचल सकते हो और घोर से घोर आपत्तियों में भी मस्त रह सकते हो। आपके अन्दर यदि दृढ़ता है, तो आपको कोई भी शक्ति किसी भी तरफ नहीं ढाल सकती।

यह क्या कि नज़र लग गई और अमुक की आँखें ऐसा हैं कि नजर लगा देती हैं। फिर वही बात आप दूसरों से भी कहते हैं और पुरुष को डाकी का और स्त्री को डाकिन का फ़तवा दे दिया जाता है।

मैंने पहले पढ़ा था कि एक लड़का अमुक के मोहल्ले में गया और संयोगवशात् उसे बुखार आ गया। बस लोगों ने निश्चय कर लिया कि उस मुहल्ले में अमुक स्त्री है और वह डाकिन है और उसी की इस बालक पर नजर पड़ गई है। उस स्त्री को लोगों ने पहले से ही बदनाम कर रक्खा था। वे उस स्त्री को पकड़ लाए और बोले—'इसको चूस। तू डाकिन है।'

स्त्री ने कहा—'हे ईश्वर, मुझे तो कुछ भी नहीं आता है। मैं तुम्हारे बालक के लिए क्यों अमंगल करूँगी? मैं कुछ भी तो नहीं जानती।'

मगर उन्होंने उसकी एक भी न सुनी और उसे मार-मारकर भूसा बना दिया। इतना मारा कि घर पहुँचते-पहुँचते वह मर

गई। फिर भी उनके अन्दर का वहम नहीं निकला। वे यही समझते रहे कि बच्चे के बुखार का कारण वही स्त्री है।

कई वार साधु भी ऐसे वहम में पड़ जाते हैं। एक बार मैंने विहार किया और भाइयों को पता लगा तो उन्होंने घेर लिया और कहा—नहीं जाने देंगे। मैंने कहा—भाइयो, मुझे आगे कुछ आवश्यक कार्य करना है, अतः मैं रुक नहीं सकता। मैं जाऊँगा। उस समय किसी के मुँह से निकल गया—महाराज, ठीक नहीं होने वाला है!

यह सुनकर हमारे एक साथी साधु को आवेश आ गया। उन्होंने कहा तुम तो अपशकुन करते हो; हम रवाना हो रहे हैं, और तुम्हारे मुँह से अपशकुन की बोली निकलती है!

तब मैंने कहा—हाँ, ये भगवान् हो गए हैं और देवी-देवता हो गए हैं और अब भविष्यवाणी हो चुकी है कि ठीक नहीं होने वाला है! इस सब का मतलब यह है कि तुम्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं है। आखिर ऐसा कहने में क्या हर्ज हो गया? कोई आग्रह की भाषा में बोलता है, तो हानि क्या है?

मैं दिल्ली से ब्यावर को रवाना हुआ। मैं मुहूर्त्त-वुहूर्त्त नहीं देखता। इस वहम को मैंने दूर कर दिया है। तो जिस दिन मैं रवाना हुआ, उस दिन दिशाशूल था और मुझे मालूम नहीं था। जब श्रावक आये, तो उनमें से एक ने कहा—'आपने मुहूर्त्त नहीं देखा है। मार्ग में बड़ी गड़बड़ी होगी—अच्छा न होगा।'

मैंने उन्हें कहा—'यदि कर्मों में दिशाशूल है, तो कोई रोकने वाला नहीं है और नहीं है, तो कोई दुःख देने वाला नहीं है। मैं तो कर्म-सिद्धान्त पर अटल आस्था रखता हूँ।'

मुझ पर उनकी बात का कुछ भी असर न हुआ। मैं रवाना हो गया और ठीक ठिकाने पहुँच गया।

यात्रा में और दूसरे कामों में कहीं न कहीं, कुछ न कुछ गड़बड़ हो ही सकती है। यह तो जीवन की गड़बड़ है। दिशाशूल के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ लेना वहम का ही परिणाम है। मार्ग में काँटा चुभ गया, तो दिशाशूल था, कहीं भोजन न मिला तो दिशाशूल था और सत्कार-सम्मान नहीं मिला, तो भी दिशाशूल था! इस प्रकार कार्य-कारण भाव की कल्पना कर लेना वहम के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जिसके मन में ऐसे-ऐसे भ्रम और वहम हैं, समझना चाहिए कि उन्होंने कर्म-फिलॉसफी का महत्त्व नहीं समझा है। एक आचार्य ने कहा है:—

"वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि"

तू वन में है तो क्या, युद्ध के मैदान में है तो क्या, महासमुद्र को तैरना है तो भी क्या और भयङ्कर दावानल जल रहा है, तो भी क्या, सोया हुआ है तो भी क्या और जागा हुआ है तब भी क्या, कोई पहरेदार हो तो क्या और न हो तो क्या है! अगर तुम्हारा पुण्य और भाग्य पहरा दे रहा है और तकदीर साथ दे रही है, तो बाल भी बांका नहीं होने वाला है। और यदि भाग्य ही रूठ गया है और जीवन में कोई भूल हो गई है, तो दुनिया-भर की व्यवस्था और संरक्षण चलते रहेंगे, फिर भी अचानक मृत्यु आकर घसीट ही ले जायगी!

सिद्धान्त का ऐसा निर्णय होने पर भी, दुर्भाग्य से हिन्दुस्तानियों को भय बना रहता है। वे सौ-सौ आशावाद लेकर चलते हैं। किसी पनिहारिन को कह देंगे, तो वह घड़ा भर कर सामने ले आएगी। आगे चलने पर कदाचित् खाली घड़ा मिल गया, तो चले तो जाएँगे, मगर कुढ़ते हुए जाएँगे और खाली लौटने का संकल्प लेकर जाएँगे।

प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता होती है। मनुष्य के प्रयत्न की अपेक्षा भी मनोबल अधिक प्रभाव-जनक होता है। ऐसी स्थिति में जो मनुष्य खाली लौटने की मनोवृत्ति लेकर चला है, उसके मन में सफलता के लिए आवश्यक संकल्प ही नहीं रह जाता और फिर वह असफल होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वास्तव में उसकी असफलता का कारण उसकी निर्बल मनोवृत्ति है, मगर समझता वह यह है कि खाली घड़ा मिल जाने से वह असफल हो गया है। इस प्रकार खाली घड़ा नहीं, खाली घड़े को देखकर उत्पन्न हुआ वहम और तज्जन्य मानसिक दुर्बलता ही उसे असफल बनाती है।

एक भाई के विषय में मुझे मालूम है। वे नवकार मंत्र पढ़कर और वीतराग देव का ध्यान करके चलते और आगे कोई तेली मिल जाता, तो फिर लौटकर दुकान पर आ जाते। बच्चे पूछते—"क्या बात है? आप लौट क्यों आये?"

वह कहते—"अपशकुन हो गया, सामने तेली आ गया।"

ऐसे विचार आज सब जगह अड्डा जमाये हैं। नवकार मंत्र पढ़कर चले थे, मगर एक तेली की टक्कर लगती है, तो नवकार मंत्र की शक्ति भी क्या गायब हो जाती है? वीतराग देव का ध्यान भी काम नहीं देता? बिना तिलक का ब्राह्मण मिल गया, तो नवकार मंत्र बेकार हो जाता है। यह सब वहम नहीं तो क्या है? इससे समाज में घृणा फैल रही है।

आखिरकार, जीवन के लिए धंधा करने वाले तेली, तंबोली और लकड़ी की गाड़ियाँ बड़े-बड़े शहरों में मिलती ही रहती हैं। यह तो रोज़-रोज़ का सिलसिला है। इनसे परहेज करने पर कोई तुल जाय, तो इन वहमों के कारण एक क़दम भी बाहर रखना मुश्किल हो जायगा।

तो, हम इस प्रकार के वहमों को असत्य कहते हैं। यह कल्पनाएँ और भावनाएँ असत्य रूप में हमारे सामने आई हैं और विचार करने से मालूम हो जाता है कि इनमें, जिस रूप में आज यह मानी जाती हैं, कोई तथ्य नहीं है। यह अन्धविश्वास है, जो सर्वत्र फैला हुआ है!

एक वहम और लीजिए। पति, पत्नी का नाम लेने में हिचकिचाता है और पत्नी, पति का नाम लेना पाप समझती है। जीवन के ५०-६० वर्ष साथ रहकर गुजारे हैं, किन्तु एक-दूसरे का नाम लेना गुनाह समझा जाता है। पूछने वाले ने नाम पूछा, तो मन में तो नाम आ ही गया, किन्तु वाणी पर नहीं आता है। हम तो तब जाने, जब मन में से भी नाम निकाल दिया जाय और मन में उसे प्रवेश न करने दिया जाय।

रामायण पढ़ने वाले जानते होंगे कि सीता ने कई बार राम और दशरथ का नाम लिया है और राम ने कई बार सीता के नाम का उच्चारण किया है। जब जटायु गिरा हुआ मिला, तो राम ने उससे पूछा—क्यों तुम्हारी यह दशा हो गई है? तब जटायु बोला—मुझे अधिक कुछ नहीं मालूम, रावण विमान में एक स्त्री को उड़ाकर ले जा रहा था और उस स्त्री के मुख से राम और दशरथ के नाम निकल रहे थे। वह विलाप करती जा रही थी। उसके मुख से राम और दशरथ के नाम सुनकर मैं समझा—यह दशरथ के घराने की है और राम की पत्नी है। मुझमें रावण से लड़ने की शक्ति नहीं थी, फिर भी रहा नहीं गया। मैं उससे भिड़ गया और उसने मेरी यह दुर्दशा कर दी। यह कहकर जटायु मर गया। सब से पहले जटायु से ही राम को पता चला कि रावण, सीता का अपहरण करके ले गया है। अभिप्राय यह है कि रामायण के आदर्श के अनुसार सीता, राम और दशरथ का नाम लेने में गुनाह नहीं समझती थी।

किसी के घर में, बहू बन कर एक लड़की आई। वह अपने वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार भजन करने लगी—

'कालीमर्दन ! कंसनिकन्दन ! देवकीनन्दन ! त्वं शरणम् !'

कालिय नाग का मद-मर्दन करने वाले, कंस का संहार करने वाले, हे देवकीनन्दन ! मैं तुम्हारे चरण-शरण को अंगीकार करती हूँ।

बात यह थी कि जिस घर में वह विवाहित होकर आई थी; उस घर में, उसके पति का नाम भी देवकीनन्दन था। अब वह लड़की 'देवकीनन्दन' शब्द का उच्चारण करे तो कैसे करे ? उसने भजन-पूजन करना ही छोड़ दिया।

कुछ दिनों बाद उसके एक लड़की पैदा हुई। उसका नाम चम्पा रक्खा गया। अब उसके भजन करने का रास्ता साफ हो गया। उसने भजन करना, शुरू कर दिया :—

कालीमर्दन ! कंसनिकन्दन ! चम्पो के चाचा ! त्वं शरणम् ।।

उसने 'देवकीनन्दन' की जगह 'चम्पो के चाचा' को बिठला दिया। पति को परमेश्वर समझ कर उसकी भक्ति करने की परम्परा पुरानी है, पर इस अभिप्राय से उसने ऐसा नहीं किया था। वह तो 'देवकीनन्दन' शब्द का उच्चारण करने में ही पाप समझ कर, उसकी जगह चम्पा के चाचा का भजन करती थी। अन्धविश्वास में इतनी विवेक-बुद्धि कहाँ कि वह दूर की बात सोचे। चम्पा के चाचा कालिय नाग का मर्दन करने वाले और कंस का संहार करने वाले किस प्रकार हो सकते हैं ? इस तर्क का उत्तर अंधविश्वास के पास नहीं है। वहाँ इस प्रकार का तर्क ही नहीं उठता, तो उत्तर कहाँ से आएगा ?

एक सन्त किसी गृहस्थ के घर से आहार लेकर लौटे और थोड़ी देर बाद दूसरे सन्त ने सहज भाव से उनका नाम पूछा, तो

वह बाई लज्जित-सी होकर चुप रह गई। सन्त ने फिर पूछा, तो वह नाम न बतला कर यही कहती रही कि—महाराज आये थे! बहुत पूछने पर उसने बतलाया कि उनका नाम हमारे बड़ों का नाम है, इस कारण मैं नाम नहीं बतला सकती।

ऐसे-ऐसे वहम अगर जोर पकड़ते गये, तो भगवान् महावीर का नाम लेना भी छूट जायगा! मगर सन्तोष की बात यही है कि लोग समझते जा रहे हैं और यह वहम कम होता जा रहा है; फिर भी गाँवों में वह चालू है, जो जीवन को अभिभूत बनाये रहता है।

एक मुसलमान और एक जाट की कहानी स्मरण आ रही है। एक बार दोनों साथ-साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में, बातचीत के सिलसिले में जाट कहने लगा—राम बड़ा और मुसलमान कहने लगा—नहीं, अल्लाह बड़ा।

दोनों लड़ते-झगड़ते एक टीले के पास से गुजरे। दोनों ने निश्चय किया—किसका देवता बड़ा है, इस प्रश्न का निपटारा यहीं करलें। इस टीले से छलांग मार कर कूदने पर जिसे चोट न लगे और जो सुरक्षित बचा रहे, उसी का देवता बड़ा है। दोनों ने परमेश्वर की परीक्षा करने की यह अचूक कसौटी स्वीकार करली।

पहले मुसलमान ने छलांग मारी और उसका कुछ भी न बिगड़ा। अब जाट की बारी आई। उसके मन में आया—"छलांग नहीं मारूँगा, तो इसका अल्लाह बड़ा हो जायगा और मेरा भगवान् छोटा हो जायगा। यह बुरी बात होगी। और यदि छलांग मारता हूँ, तो मेरा बुरा हाल हो जायगा। चोट लग जायगी और हड्डी-पसली टूट जायगी और मैं झूठा पड़ जाऊँगा।"

आखिर, राम-राम कह कर उसने छलांग मारी। सोचा-राम-राम तो अच्छा है ही; अल्लाह का नाम भी ले लूँ, तो भी क्या हर्ज

है ? यह सोच कर नीचे आते-आते उसने अल्लाह भी कह दिया। जाट को चोट लग गई। अब क्या था, मुसलमान की बन आई। उसने कहा—'लो, तुम्हारा राम झूठा हो गया।'

जाट बोला—'नहीं, राम-राम कहने से चोट नहीं लगी, अल्लाह की ऐसी की तैसी कहने में, अल्लाह का नाम आ जाने से चोट लगी है।

खैर, उन दोनों महा-पारखियों को जाने दीजिए और आप अपने ही संबंध में विचार कीजिए। आखिर, क्या बात है कि वीतराग देव का भी शरण लेते हैं, तीर्थंकरों का भी शरण लेते हैं और जानते हैं कि इन्द्र भी उनके गुलाम हैं और उनके चरणों की धूल लेने को तैयार हैं; फिर भी जब चलते हैं, तो हजार देवी-देवताओं की मनौती मनाकर चलते हैं, दही और गुड़ खाकर निकलते हैं; काली और भवानी का स्मरण करके क़दम रखते हैं; न जाने वापिस सुरक्षित लौटेंगे या नहीं, इस डर से न जाने किस-किस की आराधना करके रवाना होते हैं। जब चल पड़ते हैं, तब रास्ते में भी ऐसे डरते-डरते चलते हैं कि कहीं कोई अपशकुन न हो जाय !

हमारी जाति और समाज की यह स्थिति है। जीवन चारों ओर से भय से आक्रान्त बन गया है। सैंकड़ों तरह के वहम बुरी तरह छा गये हैं। कहते हैं, अमर बेल जिस वृक्ष पर छा जाती है, वह पनप नहीं पाता और थोड़े समय के पश्चात् सूख कर उखड़ जाता है। हमारे समाज के जीवन पर भी वहमों की अमर बेल छा गई है और इस कारण जीवन पनप नहीं रहा है, निःसत्त्व हो रहा है। हमारा जीवन सत्य के प्रति प्रगाढ़ आस्था से परिपूर्ण हो, तो वहमों को स्थान नहीं मिल सकता। सत्य का प्रकाशमान सूर्य जहाँ चमकता है, वहाँ वहम और अंधविश्वास नहीं टिक सकते।

सत्य का दिव्य बल जीवन के हर मैदान में आगे बढ़ने का हौसला देता है, जीवन में शक्ति का अखण्ड स्रोत बहाता है। पर, हम उस सत्य को भूल गये हैं। इसी कारण जगह-जगह मत्था टेकते फिरते हैं और दबे-दबे से रहते हैं।

तिलक लगाकर चलने वाले और पनिहारिन का शकुन देखने वाले क्या कभी भग्न-मनोरथ नहीं होते? लुटिया डूबने को होती है, तो हजार शुभ शकुन भी उसे रोक नहीं सकते। अभिप्राय यह है कि यह सब चीजें जैन-धर्म के अनुकूल नहीं हैं और उस महान् सत्य के अनुकूल नहीं हैं, जिसे भगवान महावीर ने हमारे समक्ष उपस्थित किया है। जिसे भगवान् के कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास होगा, वह इन सब वहमों से दूर ही रहेगा। भगवान् कहते हैं:—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति,
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति।

अगर तुमने अच्छे कर्म किये हैं, तो अच्छा फल मिलेगा, कोई ताकत नहीं कि तुम्हारा बाल भी बांका कर सके। और यदि बुरे कर्म किये हैं, तो उनका परिणाम भी बुरा ही होगा और उस परिणाम से बचाने की शक्ति किसी में नहीं है।

अरे मनुष्य! तेरे भाग्य का प्रयत्न वह प्रयत्न है कि तू कहीं जा, मंगल और शक्ति पाएगा। तुझे कोई दुख देने वाला नहीं है

तू क़दम-क़दम पर भयभीत क्यों होता है? तुझे अपने महान् भाग्य और महान् पुरुषार्थ पर विश्वास रखना चाहिए। तेरी आत्मा अनन्त शक्ति से सम्पन्न है और वह समग्र संसार के देवी-देवताओं को चुनौती दे सकती है और उन्हें अपने चरणों में झुका सकती है।

तू अपने अन्तर नयन खोलकर जरा देख तो सही, वहाँ कितनी शक्तियाँ दबी हुई हैं? सूर्य के प्रचण्ड प्रताप और प्रकाश

की मेघ आच्छादित कर देते हैं, मगर वह नष्ट नहीं हो जाता है, वह अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों बना रहता है। मेघों की आड़े आई हुई दीवारों को गिराकर हम देख सकें, तो हमें प्रकाश का पुंज दिखाई देगा। हमारी आत्मा सूर्य से भी अधिक प्रकाशशाली और प्रतापशाली है। मगर नाना प्रकार की भित्तियाँ मेघों की भाँति उसके प्रताप को रोके खड़ी हैं। इन दीवारों को गिराकर और मेघों के हृदय को चीर कर अगर हम देख सकें, तो वहाँ अनन्त और असीम शक्तियाँ खेलती हुई मिलेंगी।

हे पुरुष! तू सत्य के प्रकाश में विचरण करने को है। असत्य और अन्ध-विश्वास के अंधकार में भटकना बन्द कर दे। सत्य की शरण ग्रहण कर। जिस दिन तू सत्य के श्रीचरणों में अपनी समस्त दुर्बलताओं को समर्पित कर देगा, तेरी शक्तियों का स्रोत असंख्य धाराओं में प्रवाहित होने लगेगा और तब तू अखण्ड मंगल का अधिकारी बन जायगा।

—:-❀:—

प्रण-पूर्ति

आनन्द श्रावक ने भगवान् महावीर के चरण-कमलों में उपस्थित होकर सत्य को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी और सत्य पर अचल रह कर अपने जीवन की मंज़िल तय की थी।

मनुष्य प्रतिज्ञा करता है और एक आदर्श बना लेता है। और जब उस पर चलता है, तो सारा का सारा जीवन उसी पर चलते-चलते गुज़ार देता है। यही धर्म, संस्कृति और सभ्यता है। अतएव मैं समझता हूँ कि सत्य का मनन, भाषण और आचरण हमारे जीवन के सब से बड़े, मौलिक और ऊँचे तत्त्व हैं और उन्हीं में, एक तरह से, सारे धर्मों का रहस्य आ जाता है। हम अपने प्रति ईमानदार रहेंगे, समाज के प्रति ईमानदारी बरतेंगे और अपने आदर्श एवं सिद्धान्त के प्रति प्रामाणिक रहेंगे, इस प्रकार की तैयारी हो जाने पर व्यक्ति का जीवन धर्ममय हो जाता है।

एक मनुष्य ऐसा है, जो प्रतिज्ञा नहीं लेता है; किन्तु प्रतिज्ञा लेने के लिए विचार एवं चिन्तन करता है। वह उस विषय में, अज्ञान में नहीं, ज्ञान में है। विवेक और विचार में है। किन्तु अपने-आपको उस भूमिका में नहीं पाता है और इस कारण प्रतिज्ञा नहीं ले रहा है।

दूसरा व्यक्ति वह है, जो प्रतिज्ञा लेते देर नहीं करता है, हाथ उठाता है, तो झट से हाथ खड़ा कर देता है या प्रतिज्ञा लेने के लिए खड़ा हो जाता है, किन्तु प्रतिज्ञा ग्रहण करके ठीक रूप में उसका आचरण नहीं करता और अवसर मिलते ही उसे भंग कर देता है।

इस प्रकार जीवन की दो धाराएँ हुईं। इन दोनों धाराओं पर जैन-शास्त्रों ने विचार किया है कि कौन कैसी है और कौन कैसी है? शास्त्रों ने बतलाया है कि जो प्रतिज्ञा नहीं ले रहा है, जो अपनी दुर्बलता को ध्यान में रखता है, अपनी भूलों को समझता है और अपने प्रति प्रामाणिक होने के कारण प्रतिज्ञा ग्रहण करने का दंभ नहीं करना चाहता; उसे पाप का परित्याग न कर सकने के कारण पापी कहा जा सकता है; किन्तु जो प्रतिज्ञा लेते देर नहीं करता और तोड़ते भी देर नहीं करता, प्रतिज्ञा भंग करते जिसे कोई विचार नहीं होता, वह महापापी है। इस प्रकार पहला पापी है और दूसरा महापापी है।

हाँ, परिस्थिति-वश कभी भूल हो सकती है और भूल होने पर जो उसे ठीक कर लेता है और अपनी प्रतिज्ञा के प्रति ईमानदार रहता है, वह साधक है—आराधक है।

चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, जैनधर्म प्रतिज्ञा लेते समय उसे विचार करने की आज्ञा देता है और अपनी समस्याओं को गहराई के साथ समझने की प्रेरणा करता है। वह कहता है कि उतावली न करो, बिना समझे-बूझे कोई काम न करो, तुम्हें जो प्रतिज्ञा लेनी है, उसके सम्बन्ध में अपनी शक्ति एवं योग्यता की जाँच कर लो, इसके बाद जब प्रतिज्ञा लो, तो उसके लिए सारा जीवन लगा दो और अपने सर्वस्व की बाजी लगा दो। अपनी पवित्र प्रतिज्ञा के लिए सारा जीवन होम दो और अपनी मान-प्रतिष्ठा को भी उस पर बलिदान कर दो।

इस रूप में सत्य का यही अर्थ होता है कि जो बोला है, उसे किया जाय, जो कहा है, उसका आचरण किया जाय। चाहे तुमने अकेले में प्रतिज्ञा की हो, चाहे हजारों के बीच में, उसका पूर्ण रूप से पालन करो।

कोई नियम ले लेना और उसका पालन करने की परवाह न करना उन्नति का मार्ग नहीं, पतन का मार्ग है। इस रूप में विचार करने से विदित होता है कि सत्य जीवन का सब से बड़ा धर्म है। सचाई इतनी बड़ी सचाई है कि जीवन के प्रत्येक मैदान में उसकी तलाश करनी चाहिए। ऐसा नहीं है कि सत्य किसी कोने की चीज़ है और जब अमुक जगह जाएँ, तो उसे उठा लिया करें और अन्यत्र जाएँ, तो उसे वहीं विराजमान करके जाएँ।

अगर आपने सत्य को ग्रहण कर लिया है, तो अपनी समस्त शक्तियाँ उसकी आराधना में लगा दो। क्षण-भर के लिए भी उससे विमुख होने का विचार न करो। सत्य को ही संसार में सर्वोपरि समझो। सत्य से बढ़कर फिर कोई दूसरी वस्तु आपके लिए स्पृहणीय नहीं होनी चाहिए। उसके प्रति पूरी प्रामाणिकता बरतनी चाहिए। यही सत्य के आचरण का आदर्श है और जो इस आदर्श का अनुसरण करेगा, उसी का जीवन खिले हुए फूल की तरह महक उठेगा।

किन्तु, दुर्भाग्य से आज के जीवन में चारों ओर असत्य का साम्राज्य फैल रहा है। दो आदमी आपस में मिलते हैं और घुट-घुटकर बातें करते हैं। बातें करके अलग होते हैं, तो एक-दूसरे के प्रति अविश्वस्त हैं। किसी को किसी पर विश्वास नहीं है। दोनों के मन में सचाई नहीं है। वह उससे कपट करता है

पारिवारिक जीवन में और सामाजिक जीवन में भी अविश्वास की लहरें चल रही हैं। घर में रहते हैं, तब भी अन्तःकरण में असत्य छाया रहता है, दुकान पर जाते हैं, मित्र मिलते हैं या शत्रु मिलते हैं, तब भी असत्य छाया रहता है। असत्य ने एक विकट समस्या खड़ी कर दी है। मानव-जीवन के प्रत्येक अंग में असत्य का ही बोल बाला दिखाई देता है। सर्वत्र असत्य

का धुंधलापन फैल रहा है। अन्य पापों को तो लोग पाप समझते हैं, परन्तु इस महापाप को पाप में जैसे गिनती ही नहीं है। असत्य भाषण और आचरण करने में मानो बुराई ही नहीं है। जब कोई बुराई बहुत व्यापक रूप धारण करके जनता के जीवन में प्रवेश कर जाती है और वह आम चीज बन जाती है, तो लोग उसे बुराई समझना ही छोड़ देते हैं। उन्हें लगता है कि यह तो एक साधारण सी चीज है, जो सभी में विद्यमान है। अर्थात् उनकी निगाह में बुराई वह है, जो गिने-चुने थोड़े आदमियों में ही होती है। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो उस बुराई का प्रतिकार करना बड़ा कठिन हो जाता है।

असत्य के संबंध में आज यही स्थिति है। जन-जन के मन में उसने प्रवेश पा लिया है और वह इतनी व्यापक वस्तु बन गई है कि असत्य का आचरण करके कोई लज्जित नहीं होना चाहता। कई बार तो लोग असत्य का आचरण करके गौरव का अनुभव करते हैं और दूसरों के सामने अपने असत्याचार का बखान करते हैं, मानो उन्होंने कोई बड़ी बहादुरी या बुद्धिमत्ता का काम किया है। इस दशा में, जीवन की रग-रग में घुसे हुए इस महापाप को निकालने का यत्न करें भी, तो कैसे करें?

राजकीय कानून अन्य अपराधों के प्रति जितना सख्त है, क्या असत्य के प्रति भी उतना ही सख्त है? ऐसा जान तो नहीं पड़ता।

साधारण कोटि की जनता में ही असत्य का साम्राज्य हो, तो भी बात नहीं है। संसार में प्रथम कोटि के समझे जाने वाले लोगों में भी असत्य घर किये हुए है। जो राजनीतिज्ञ आज विश्व के व्यवस्थापक समझे जाते हैं, सत्य की दृष्टि से उनका चरित्र आज अत्यन्त शोचनीय है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय समस्या इसी कारण उलझनों से भरी हुई दिखाई देती है।

एक देश का दूसरे देश के साथ आज कोई समझौता हुआ और संधिनामा हुआ और उसकी स्याही भी नहीं सूखने पाई कि उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। यह असत्य नहीं, तो क्या है ? इस अनैतिकता का जन-साधारण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब श्रेष्ठ समझे जाने वाले ऐसा आचरण करते हैं, तो साधारण लोग भी उनका ही अनुकरण करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः

बड़े आदमी जिस राह पर चलेंगे, छोटे भी उसी पर चलेंगे।

किन्तु, एक दिन वह था कि मनुष्य ने स्वप्न में कह दिया था, तो उसे भी पूरा करके दिखलाया था। भारतीय वैदिक साहित्य में राजा हरिश्चन्द्र की कहानी प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वप्न में राज्य दे दिया था, तो दिन आते ही वह, जिसे दिया था उसकी तलाश में थे। वह चाहते थे कि जिसे राज्य दे दिया है, उसे सौंप दें। इस प्रकार स्वप्न में किये हुए वायदे को भी वे पूरा करने के लिए उत्कंठित हैं।

फिर ऐसा युग आया कि लोग कहने लगे—स्वप्न तो भ्रम है। उसमें वास्तविकता नहीं है। वह तो यों ही आया करता है। उसकी जवाबदारियों को कहाँ तक पूरा करेंगे।

उसके बाद जागृत अवस्था में भी किये गये वायदे तोड़े जाने लगे। मुख से कह कर मुकरने लगे। जब कहने का कोई मूल्य न रह गया, तो हस्ताक्षर कराये जाने लगे। अर्थात् मनुष्य ने जब स्वप्न के और वाणी के सत्य का पालन करना छोड़ दिया, तो लिखा-पढ़ी का सूत्रपात हुआ।

कुछ समय बीता और असत्य का रोग और अधिक प्रबल हो गया। तब हस्ताक्षरों का भी कोई मूल्य न रह गया। लोग कहने लगे—दबाव से लिखवा लिया है। इस स्थिति में बीमारी

का नया इलाज सोचा गया। गवाहों के हस्ताक्षरों का आविष्कार हुआ। जब एक गवाह से काम न चला, तो दो गवाहों का होना आवश्यक समझा गया।

किन्तु, आज उन गवाहों का भी कोई मूल्य नहीं रह गया है। आज गवाह भी ठोकरें खाते फिरते हैं। अठन्नी और चवन्नी में, चाहे जितने गवाह आप खड़े कर सकते हैं। आज लम्बी-चौड़ी लिखा-पढ़ी होती है, उस पर हस्ताक्षर होते हैं, गवाहों के हस्ताक्षर होते हैं, फिर भी उसका कोई मूल्य नहीं है।

यह इतिहास; मानवजाति की अप्रामाणिकता का इतिहास है। यह उसके पतन का कलुषित इतिहास है। कहाँ हमारी महान् उज्ज्वल परम्पराएँ और कहाँ हमारा वर्त्तमान !

अगर कोई परिस्थिति आप के ऊपर जबर्दस्ती लादी जा रही है। और आप समझते हैं कि उसके पीछे विवेक और विचार नहीं है अथवा वह आपको अनुकूल नहीं मालूम होती, तो आपको उसका विरोध करने का हक़ है, उसके विरुद्ध खुला संघर्ष करने का अधिकार है। विरोध और संघर्ष करने में अपमान मिले या तिरस्कार मिले, उसकी कोई कीमत नहीं होनी चाहिए। किन्तु जीवन में जो कहा गया है और लिखा गया है, उसकी कीमत होनी चाहिए। मगर किसी बात को कहते या स्वीकार करते समय हम अपनी जिम्मेदारी का विचार नहीं करते, और झटपट हस्ताक्षर बना देते हैं, और फिर उसका पालन भी नहीं करते हैं। इसी कारण एक प्रकार से राजनीति भी भ्रष्ट हो गई है और प्रजा का जीवन भी भ्रष्ट हो गया है। न आज का त्यागी अपनी ऊँचाई पर रहा है, न भोगी ही उस ऊँचाई पर स्थिर रहा है।

इस प्रकार जहाँ देखो, वहीं घोर पतन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। जीवन का अंग-अंग असत्य की गंदगी से सड़ रहा है।

लोग सत्य की बात करते हैं, किन्तु जब उसके आचरण करने का प्रश्न सामने आता है; तो गड़बड़ा जाते हैं। सचाई यह है कि जब तक जीवन में सत्य का प्रवेश न होगा, ज़ीवन पनप नहीं सकेगा। अहिंसा और दूसरे आदर्श आ नहीं सकेंगे। इसी प्रकार सत्य का आश्रय लिये बिना राजनीति भी ठीक दिशा ग्रहण नहीं कर सकेगी। राजनीति में से असत्य निकलेगा, तो राष्ट्रों का कल्याण होगा और प्रजा के जीवन में से असत्य निकलेगा, तो प्रजा का और समाज का कल्याण होगा।

हाँ, आप इस तथ्य को भूल न जाएँ कि समाज और राष्ट्र का निर्माण व्यक्तियों से होता है। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है और राष्ट्र है। व्यक्तियों के गुण और अवगुण ही समाज एवं राष्ट्र के गुण और अवगुण कहलाते हैं। व्यक्तियों की निर्बलता ही समाज की निर्बलता है, व्यक्तियों की सचाई ही समाज की सचाई है। अतएव व्यक्तियों के निर्माण में ही समाज, राष्ट्र और विश्व का भी निर्माण निहित है। अतएव अगर आप अपना और अपने पड़ौसी का जीवन-निर्माण करते हैं, तो समाज और राष्ट्र के एक अङ्ग का निर्माण करते हैं। तो आप इस बात को भूल जाइए कि राजा या राज-नीतिज्ञ क्या कर रहे हैं, समाज के नेता किस सीमा तक असत्य का आचरण कर रहे हैं। उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दीजिए। आप अपने ही जीवन के निर्माण में लग जाइए। आप सत्य का आचरण करने का अटल संकल्प कर लीजिए। अगर आपने ऐसा किया, तो आपका पड़ौसी, आपका मुहल्ला और आपका गाँव भी धीरे-धीरे आपका अनुकरण करने लगेगा।

कदाचित् ऐसा न हो और आप अकेले ही अपनी राह पर हों, तो भी डगमगाने की आवश्यकता नहीं। जिस पथ को आपने

प्रशस्त समझ कर अपनाया है, उस पर अकेले चलने में भी क्या हर्ज है ?

व्यापार में धन कमाने की बात आती है, तो लोग सोचते हैं, अकेले मुझको ही मुनाफ़ा हो। जब उसे अकेले को मुनाफ़ा होता है, तो उसकी खुशी का पार नहीं रहता। औरों को भी मुनाफ़ा होता है, तो उसे अधिक खुशी नहीं होती। मगर जहाँ धर्म के आचरण का प्रश्न आता है, तो वही कहता है—मैं अकेला ही धर्म का आचरण क्यों करूँ ? दुनिया असत्य का सेवन करती है, तो मुझको ही क्या पड़ी है कि मैं सत्य का सेवन करूँ ? वह भूल जाता है कि प्रत्येक की आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व है और सबको अपने-अपने किये कर्मों का फल भुगतना पड़ता है।

कई लोग सोचते हैं कि जो सबका होगा, वह मेरा भी होगा। मैं कोई अकेला ही पाप थोड़े कर रहा हूँ ? ऐसे लोगों को शास्त्र ने गंभीर चेतावनी दी है। कहा है—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥

—उत्तराध्ययन, ५-७

जो अज्ञानी है, अविवेकी है, वही ऐसा सोचता है कि बहुतों को जो भुगतना पड़ेगा, वह मैं भी भुगत लूँगा। ऐसा मनुष्य क्लेश से बच नहीं सकता। उसके पापों का परिणाम, सबमें थोड़ा-थोड़ा बँटने वाला नहीं है। उसे अकेले को ही अपने पाप का फल भोगना पड़ेगा।

तो, अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं, तो अपने मस्तिष्क में से इस दुर्विचार को दूर कर दीजिए कि सारा संसार असत्य के दल-दल में फँसा है, तो मैं ही उबरने का प्रयत्न क्यों करूँ ? आपने असत्य को अपने जीवन का अभिशाप समझा

है, तो दूसरे कुछ भी करें, आप असत्य का त्याग करके सत्य की शरण लें। ऐसा करने से आपका कल्याण तो होगा ही, दूसरों का भी कल्याण होगा।

सत्यमय जीवन बनाने के लिए असत्य का त्याग करना आवश्यक है और असत्य का त्याग करने के लिए विविध रूपों को पहचान लेना आवश्यक है। असत्य ने आज विराट रूप धारण किया है और वह मानवता को निगल जाने का प्रयत्न कर रहा है। वह नित्य नये रूप ग्रहण करता है। छल-कपट, रिश्वत आदि रूप तो उसके पुराने हैं ही, इस युग में उसने कूट-नीति, चोर-बाजारी आदि के नवीन रूप धारण किये हैं। असत्य से बचने के लिए इन सबसे बचना होगा।

कोई आदमी अपने जीवन में असत्य भाषण करता है, तो यह भी बुरी चीज है, पर इससे भी बुरी और भयंकर चीज है, उसे धर्म और संस्कृति का रूप दे देना। असत्य जब धर्म का या संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेता है, तो उसे व्यापक समर्थन मिल जाता है और वह सत्य के रूप में व्यवहृत होने लगता है। जो लोग किसी स्वार्थ, अहंकार या विद्वेष के वशवर्ती होकर असत्य को सत्य रूप देते हैं, वे बड़ी ही भयंकर भूल करते हैं। वह भूल उनके जीवन के साथ समाप्त नहीं हो जाती, वरन् सदियों तक चलती रहती है और जनता के जीवन को बर्बाद करती रहती है।

जैन इतिहास में यज्ञ कैसे चालू हुआ, यह बतलाने के लिए एक घटना का उल्लेख मिलता है। पुराने युग में एक वसु राजा थे। वे सत्य के बड़े उपासक थे। उन्होंने राज-सिंहासन पर बैठ कर राज्य को ऊँचा बनाने का प्रयत्न किया। वे दूध का दूध और पानी का पानी किया करते थे। कहते हैं, सत्य के प्रभाव से उनका सिंहासन पृथ्वी के ऊपर अधर हो गया था।

उसी युग में दो बड़े विद्वान् थे और उन्होंने एक ही आचार्य से शिक्षा पाई थी। एक का नाम पर्वत और दूसरे का नाम नारद था। पर्वत को शास्त्रों का अभ्यास तो ज्यादा था, पर वह उनके अनुसार चलता नहीं था। संसार में उसकी प्रख्याति बढ़ रही थी, परन्तु इस प्रख्याति ने उसे शास्त्रों के चिन्तन-मनन से विमुख बना दिया था। उधर नारद की प्रख्याति तो अधिक नहीं हो रही थी, किन्तु वह निरन्तर अपने जीवन को शास्त्रों के चिन्तन-मनन में लगाये रहता था। दोनों ही वेदों के नामी-गिरामी पण्डित कहे जाते थे।

एक बार नारद, पर्वत के घर उससे मिलने आया। पर्वत अपने घर पर शिष्यों को पढ़ाया करता था। नियत समय पर उसने पढ़ाना आरंभ किया। नारद उसकी बगल में बैठा था। पढ़ाते-पढ़ाते एक वाक्य आयाः—

"अजैर्यष्टव्यम्"

पर्वत ने उसका अर्थ कर दिया—अजों से अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिए।

पर्वत का बतलाया अर्थ सुन कर नारद तिलमिला उठा। उससे चुप नहीं रहा गया। उसने कहा—"पर्वत, यह क्या कह रहे हो? जरा सोच-समझ कर बोलो। ऐसा अर्थ करने से घोर अनर्थ होगा। तुम्हारे जैसे विद्वान् ऐसा अर्थ करने लगेंगे, तो गजब हो जाएगा।"

और कोई अवसर होता, तो शायद पर्वत अपनी पर्वत-जैसी विशाल भूल को स्वीकार कर लेता; पर उसके सामने उसके शिष्य बैठे थे। अपनी भूल मान लेता, तो गौरव की क्षति होती। पण्डिताई में बट्टा लग जाने का उसे भय था। अतएव उसने अपनी बात पर दृढ़ रहते हुए कहा—"मैंने जो अर्थ बतलाया है, वही सच्चा

अर्थ है। किसी भी कोष में देख लो, 'अज' का अर्थ बकरा लिखा मिलेगा।"

नारद ने शान्ति और गंभीरता से कहा—"भाई, तुम भूल कर रहे हो। गृहस्थ के घर जो क्रियाकाण्ड होता है, उसमें तीन वर्ष पुराने जौ, जिनमें उगने की शक्ति नहीं रह जाती, होम करने के काम आते हैं। अज का अर्थ वही जौ हैं। यहाँ 'अज' शब्द का अर्थ बकरा नहीं है।"

पर्वत, पर्वत की ही तरह अपनी बात पर अचल रहा। उसने कहा—"नहीं, आपका मन्तव्य ठीक नहीं है और मैंने जो अर्थ बतलाया है, वही सही है। विश्वास न हो, तो हर किसी से पूछ लो।"

नारद बोला—"हर किसी से क्या पूछना है। हर कोई शास्त्रों की बातों की गंभीरता को नहीं समझता। हर कोई शास्त्रों का अध्ययन कर लेगा और निर्णय दे देगा, तो फिर आप जैसे विद्वानों को कौन पूछेगा ? अगर तुम वेदों को ध्यान पूर्वक पढ़ोगे, तो स्वयं समझ जाओगे कि यहाँ 'अज' का अर्थ बकरा नहीं है।"

पर्वत ने कहा—"तुम निर्णय कराने से डरते भी हो और पकड़ी बात को छोड़ना भी नहीं चाहते हो।"

अब शास्त्र और सत्य किनारे पड़ गए और अहंकार में रस्साकशी होने लगी। जब अहंकार में रस्साकशी होने लगती है, तो समझना-समझाना कठिन हो जाता है।

भूल हो जाना असंभव नहीं, अस्वाभाविक भी नहीं, बल्कि वह छद्मस्थ ही क्या, जिससे भूल न होती हो। किन्तु आराधक वही है, जो सत्य का प्रकाश मिलते ही उसे ग्रहण कर लेता है। सत्य-परायण पुरुष अपनी भूल को दबाने, छिपाने या उसका समर्थन करने का प्रयास नहीं करेगा। अपनी अप्रतिष्ठा के भय

से या शान में बट्टा लग जाने के डर से वह भूल को भूल समझ कर भी उसके प्रति आग्रहशील न होगा। उसमें इतना आत्मबल होना चाहिए कि भूल हुई है, तो समाज को कह सके कि अब तक जो किया है, वह गलत परम्परा थी और अब मैंने इस रूप में सत्य को प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार सत्य की भूमिका इतनी ऊँची है कि उसकी विद्यमानता में, जीवन में असत्य और अहंकार नहीं रहना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्य से मनुष्य का अहंकार इतना बड़ा है कि वह अपने-आपको ईश्वर से कम नहीं समझता। वह अपनी व्यक्तिगत मान्यता या धारणा को इतना महत्व दे देता है कि शास्त्र एक किनारे पड़ा रह जाता है और वह शास्त्र की गर्दन तोड़ता-मरोड़ता रहता है। भारत के असंख्य पंथों और सम्प्रदायों का इतिहास खोजने से पता चलेगा कि उनमें से अनेक व्यक्तिगत अहंकार के बीज से ही पैदा हुए हैं और फिर उन्होंने वृक्ष का रूप धारण कर लिया।

हाँ, तो पर्वत और नारद के बीच जो मतभेद उत्पन्न हुआ था, उसने गरमागरम बहस का रूप धारण कर लिया। लम्बी-चौड़ी चर्चा चली, पर निर्णय कुछ नहीं हुआ। जहाँ सत्य की जिज्ञासा नहीं और सत्य को स्वीकार कर लेने की विनम्र एवं सरल भावना नहीं, वहाँ निर्णय होने की कोई सम्भावना भी नहीं।

आखिर पर्वत ने कहा—"हमारे मतभेद का निर्णय तो तीसरे व्यक्ति से हो सकता है।"

नारद ने स्वीकार करते हुए कहा—"ठीक है, तीसरे से निर्णय कराना ही चाहिए।"

पर्वत—"अच्छा, राजा वसु हम दोनों के सहपाठी हैं। हम उन्हीं से निर्णय कराएँगे। हम वादी-प्रतिवादी के रूप में उनके सामने जाएँगे। अगर उन्होंने आपके पक्ष में फैसला दे दिया, तो

मैं अपनी जीभ कटवा लूँगा। अगर मेरे पक्ष में फैसला हुआ, तो आपको जीभ कटवानी होगी।"

यह तो पागल न्याय है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य में सत्य को स्वीकार करने की तैयारी नहीं है, एक दूसरे की जीभ काटने को वह तैयार है। और इस रूप में अपनी सत्ता को बर्बाद कर देने को तैयार है।

नारद बोला—"इसमें जीभ कटवाने की कोई बात नहीं है। ठीक है कि सत्य के लिए लोगों ने अपने जीवन की बलि दी है, पर यह प्रसंग ऐसा नहीं है। हम तो सत्य की रक्षा करते हुए भी अपने जीवन की रक्षा कर सकते हैं। हमें तो अपने-अपने अहंकार की जीभ काटनी है। जब प्राणों का बलिदान दिये बिना सत्य की रक्षा संभव न हो, तब वैसा करके भी सत्य की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है।"

किन्तु, पर्वत नहीं माना। उसने यही कहा—"फैसला तभी करायेंगे, जब यह शर्त मंजूर करली जाय।"

नारद को अपने पक्ष की सचाई में लेशमात्र सन्देह नहीं था। अपनी जीभ कट जाने का उसे भय नहीं था। मगर शास्त्र-चिन्तन के क्षेत्र में इस प्रकार की कठोर शर्त रखना उसे अयोग्य प्रतीत होता था। मगर वह विवश था। पर्वत उसकी बात मानने को तैयार नहीं था। अतएव उसने भी यह शर्त स्वीकार करली। राजा के पास जाकर निर्णय करा लेने का समय नियत कर लिया गया।

पर्वत ने जब शास्त्रों की टीका-टिप्पणी देखी, तो उसे मालूम हुआ कि नारद की बात सच्ची है और मेरा पक्ष गलत है। मौत उसके सामने नाचने लगी। वह काँप उठा।

पर्वत की माता को यह बात मालूम हुई, तो उसने कहा—"तूने शर्त ठीक नहीं की है, परन्तु मैं दबाव डालकर या डलवा

कर राजा वसु को तैयार कर दूँगी।" आखिर, उसने वसु पर दबाव डाला और वसु उसके दबाव में आ गया।

नियत समय पर दोनों विद्वान् राजा के समक्ष उपस्थित हुए। वसु को आन्तरिक प्रसन्नता नहीं थी। उसका सत्यशील अन्तःकरण जैसे काटने दौड़ रहा था। वह जानता था कि आज उसे क्या समझते हुए क्या कहना पड़ेगा। मगर वह वचन दे चुका था।

दोनों विद्वानों में शास्त्रार्थ हुआ। लम्बी चर्चा हुई। राजा वसु ने निर्णय में स्पष्ट हाँ या ना न करके जब नारद बोला, तो चुप्पी साध ली और जब पर्वत बोलने लगा, तो उसका समर्थन कर दिया। कहते हैं, ऐसा करते ही वसु का सिंहासन, जो सत्य के प्रभाव से अधर ठहरा हुआ था, नीचे आ रहा।

वसु ने अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए असत्य बोला होता, तो वह असत्य भी असत्य ही था, पर उसका प्रभाव दूसरों पर न पड़ता। उस असत्य का प्रभाव उसी के जीवन तक सीमित रहता, किन्तु जब एक सिद्धान्त के लिए असत्य बोला गया, धर्म के लिए असत्य का व्यवहार किया गया और संस्कृति की दृष्टि से असत्य का समर्थन किया गया. तो उसका प्रभाव वसु तक ही सीमित नहीं रहा। उस असत्य ने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। उसके फल-स्वरूप हजारों वर्षों से जो अनेकानेक पशु मारे जा रहे हैं, उसका दायित्व वसु पर ही पहुँचता है। एक समय और एक रूप में बोला गया असत्य हजारों वर्षों तक चलता रहा और आज भी वह चलता जा रहा है।

मतलब यह है कि असत्य का पूर्ण रूप से त्याग करना, तो उचित है ही, इसमें मतभेद के लिए कोई अवकाश नहीं है; किन्तु जब यह संभव न हो, तो हमें उसकी मर्यादाएँ बना लेनी चाहिएँ।

मैंने प्रारम्भ में आनन्द श्रावक का उल्लेख किया है। उसने भगवान महावीर के समक्ष सत्य की प्रतिज्ञा ग्रहण की, तो गृहस्थ-जीवन की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर ही की। साधु-जीवन और गृहस्थ-जीवन की मर्यादाएँ अलग-अलग हैं। शास्त्रकार भी उन मर्यादाओं पर दृष्टि रखते हैं और उनके आधार पर ही सत्य का विधान करते हैं। आनन्द श्रावक ने स्थूल-मृषावाद का त्याग किया था। अर्थात् वह पूर्ण रूप से असत्य का त्याग नहीं कर सके थे। आनन्द ने पहले अपनी कमजोरियों को नापा, सोचा कि गृहस्थ-जीवन के क्षेत्र में चल रहे हैं, तो कहाँ-कहाँ चलना पड़ेगा? जीवन की सब समस्याएँ उनके सामने थीं। अतएव वह जितना आगे चल सकते थे, उतना ही स्वीकार किया। और जितना नहीं चल सकते थे, उसके लिए अपवाद रख लिया। उन्होंने स्थूल-मृषावाद का त्याग करके सत्य के एक अंश को अंगीकार किया।

स्थूल मृषावाद को त्यागने का अर्थ क्या है? छोटा असत्य क्या है और बड़ा असत्य क्या है?

जैसे अहिंसा के सम्बन्ध में स्थूल और सूक्ष्म मर्यादाएँ हैं, इसी प्रकार सत्य के विषय में भी हैं। अहिंसा के पथ पर चलने वाले साधक के सामने परिपूर्ण अहिंसा ही लक्ष्य रहती है। वह चाहता है कि अहिंसा की समस्त धाराएँ उसके जीवन में प्रवेश करें। जैनधर्म ने माना है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

ऊपर से नीचे तक जितने भी प्राणी हैं, उन सब में सुख-दुःख की लहर है और सभी जीवित रहना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता। अतएव तुम्हारी दया और करुणा विश्व के समस्त प्राणियों की ओर एक रस बहनी चाहिए।

ऐसा होने पर भी जब अहिंसा को प्राप्त करने चलो, तो एक मार्ग बना कर चलो—पगडंडियाँ बना कर चलो।

इस रूप में, जैनधर्म की अहिंसा गृहस्थ-जीवन में उतरी। उसने वर्गीकरण की पद्धति का उपयोग किया। एक तरफ पंचेन्द्रिय जीव है। आहार के लिए उसका संहार करना, उसके प्राणों का घात करना एक बहुत बड़ा गुनाह है। पंचेन्द्रिय की घात करना और मांस खाना नरक की राह है। इस प्रकार जैनधर्म ने सबसे पहले उन बड़े जीवों की हिंसा त्यागने की प्रेरणा की। उसने सोचा कि मनुष्य की जिंदगी को एक साथ नहीं समेटा जा सकता है। मनुष्य की अपनी परिस्थितियाँ हैं और अपने जीवन की धाराएँ हैं। उन पर थोड़ा-थोड़ा चलता है, तो एक दिन बहुत आगे भी बढ़ जायगा और अपने लक्ष्य तक पहुँच जायगा। कल्पना कीजिए, जो बालक अभी खड़ा ही नहीं हो सकता, उसे पहले खड़ा तो होने दो, उसे दौड़ने को मत कहो। जो खड़ा हो सकता हो, उसे चलने तो दो, उसे दौड़ने को क्यों कहते हो? और जो चल सकता है, उसे ही दौड़ लगाने को कहना उचित माना जा सकता है। यह एक रूपक है।

इसी प्रकार जिसने अहिंसा और सत्य के मार्ग पर चलना ही नहीं आरंभ किया है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह पूरी तरह उसका पालन करने लग जायगा। उसके लिए अहिंसा और सत्य की विविध भूमिकाएँ हैं और वह अपनी शक्ति के अनुसार उन भूमिकाओं को प्राप्त करता जाय और क्रमशः आगे बढ़ता चला जाय।

क्या पंचेन्द्रिय और क्या एकेन्द्रिय, सभी को जीना है और जैनधर्म नहीं कहता कि पंचेन्द्रिय की ही रक्षा करो और एकेन्द्रिय को मारो या मरने दो। उसने तो यही कहा है कि तुम्हारा कर्तव्य

जीव-मात्र के प्रति दया का भाव रखना है, परन्तु पहला उत्तर-दायित्व वहीं है, जहाँ तुम रह रहे हो। जिन जीवों में तुम्हारी सरीखी ही चेतना मौजूद है, पहले उनके प्रति अपनी करुणा की भेंट चढ़ाओ। फिर आगे बढ़ो और छोटे-छोटे जीवों पर भी अपने करुणा-भाव का विस्तार करो। जल को लो, तो उससे ज्यादा मत लो, जितने की तुम्हें आवश्यकता है। जरूरत से ज्यादा, एकेन्द्रिय प्राणियों के भी प्राण हनन करने का तुम्हें हक नहीं है।

यही बात गांधीजी के जीवन में भी उतर कर आई थी। गांधी जी यरवदा-जेल में थे और वहाँ रुई धुना करते थे। धुनते-धुनते तांत ढीली पड़ गई, तो उसे मजबूत बनाने के लिए उन्होंने सोचा—नीम के पत्तों से ठीक कर लेना चाहिए। जेल के आदमी से नीम के कुछ पत्ते लाने के लिए कहा, तो वह एक टोकरी पत्तों से भर कर ले आया। उस समय चोइथराम गिडवानी उनके पास मौजूद थे। उन्होंने एक लेख में लिखा है—"उस पत्तों से भरी टोकरी को देखकर महात्माजी की आत्मा वेदना और दया से भर गई। उन्होंने उस आदमी से कहा—तुमने मुझसे प्रेम किया है और इस कारण सारे वृक्ष को सूंत कर ले आये हो। पर, तुम्हें मालूम है कि जैसी वेदना तुम्हें होती है, वैसी ही वेदना वनस्पति को भी होती है? मनुष्य को जरूरत के लिए काम करना पड़ता है, किन्तु व्यर्थ में एक पत्ते की भी हत्या नहीं होनी चाहिए। आज के बाद तुम ऐसी भूल नहीं करोगे, यही मेरी सब से बड़ी सेवा है।"

जैनधर्म का यही सन्देश है। वह कहता है कि पानी की एक बूँद भी व्यर्थ न बहाओ। एक पत्ती की भी निरर्थक हत्या न करो।

इस रूप में अहिंसा की मर्यादाओं को लेकर ही हम आगे बढ़ें। और अहिंसा के संबंध में जो बात है, वही सत्य के संबंध में भी है। ऐसा नही है कि अहिंसा का व्रत छोटा है और उसमें मर्यादाएँ हो सकती हैं, किन्तु सत्य का व्रत इतना बड़ा है कि उसमें मर्यादाएँ नहीं हो सकतीं। संभव है आजकल के विचारक, और संभव है पुराने युग के विचारक भी कहते हों कि सत्य के लिए कोई मर्यादा नहीं हो सकती। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अन्यथा साधु और गृहस्थ की व्रत-मर्यादा में अन्तर ही क्यों किया जाता ?

मान लीजिए, एक गृहस्थ ऐसी जगह रहता है, जहाँ उसकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध नहीं है। वहाँ आक्रमणकारी आ जाते हैं और गृहस्थ से मालूम करते हैं कि तुम्हारी सम्पत्ति कहाँ है ? बताओ, तुम्हारे घर की स्त्रियां कहाँ हैं ? और चीजें कहाँ हैं ? ऐसा स्थिति में, मैं समझता हूँ कि संसार का कोई भी धर्म, जो शास्त्र की सीमाएँ बाँधकर चला है, सत्य का आग्रह नहीं करता है। वह नहीं कहता कि गृहस्थ सब की सब चीजें बतला दे और स्त्रियों को भी आक्रमणकारियों के सामने उपस्थित कर दे। अगर कोई गृहस्थ ऐसा करता भी है, तो बाद में उसके जीवन में जो संकल्प, आर्तध्यान और रौद्रध्यान के रूप में उत्पन्न होंगे, उनसे वह और भी अधिक पापों का संग्रह कर लेगा।

इस रूप में, जैनधर्म सत्य के विषय में भी मर्यादाएँ कायम करता है और उसका ऐसा करना उचित ही है। गृहस्थ को आत्म-रक्षा के लिए, अपने परिवार और देश की रक्षा के लिए समझौता करना पड़ता है।

किसी देश का नागरिक शत्रु-देश में गिरफ्तार हो जाय, जैसा कि युद्ध के अवसर पर प्रायः होता है, और शत्रु-देश का कोई

अधिकारी उससे उसके देश की गुप्त बातें पूछे, तो गिरफ्तार नागरिक का क्या कर्तव्य है? वह क्या बतलाए और क्या न बतलाए? क्या अपने देश की बातें उसके सामने खोल कर रख दे? क्या अपने राष्ट्र की गुप्त योजनाएँ सत्य के रूप में वह प्रकट कर दे?

हाँ, अगर उसमें मरने का हौसला है और इतनी बड़ी हिम्मत है, तब तो वह स्पष्ट रूप से कह देगा कि मुझे प्राण देना स्वीकार है, पर अपने देश का भेद खोलना स्वीकार नहीं है। और अगर इतनी तैयारी नहीं है, जीवन की भूमिका में वह इतना ऊँचा नहीं उठा है, तो गृहस्थ के लिए ऐसी मर्यादा बाँध दी गई है कि वह जितना चल सके, उतना ही चले।

अलबत्ता, गृहस्थ को भी अधिकार नहीं कि वह भयंकर परिणाम लाने वाले, द्वन्द्व खड़ा कर देने वाले और हजारों की जिन्दगी खत्म कर देने वाले असत्य का प्रयोग करे। हमारे एक प्रतिभाशाली आचार्य कहते हैं—

स्थूलमलीकं न वदेद्, न परान्वादयेत्सत्यमपि विपदे।

—रत्नकरण्ड-श्रावकाचार

गृहस्थ के सत्यव्रत की मर्यादा यह है कि वह स्थूल असत्य भाषण स्वयं न करे और दूसरे से भी न कराए, साथ ही ऐसा सत्य भाषण भी न करे, जिससे दूसरों पर मुसीबत आ पड़ती हो। दूसरों पर विपत्ति देने वाला वचन हिंसा-कारक होने से सत्य की कोटि में नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के लिए सत्य की मर्यादाएँ हैं; किन्तु वे मर्यादाएँ मनचाही नहीं हैं। शास्त्रों में उन मर्यादाओं को स्थिर कर दिया गया है। उन मर्यादाओं की मुख्य कसौटी अहिंसा

है। जहाँ अहिंसा व्रत का भङ्ग होता है और हिंसा को उत्तेजना मिलती है, वहाँ गृहस्थ के लिए अपवाद है।

इस अपवाद का हेतु, जैसा कि ऊपर संकेत कर दिया गया है, गृहस्थ की जीवनोत्सर्ग कर देने का अक्षमता ही है। वह सत्य के लिए अपना जीवन देने में समर्थ नहीं है, इसी कारण उसके लिए कुछ छूट दी गई है। जिसमें वह क्षमता है, उसके लिए छूट देने का अथवा दी हुई छूट का उपयोग करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यही कारण है कि साधु के लिए सत्य के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं बाँधी गई है। साधु का जीवन उस उच्चतर स्तर पर पहुँचा होना चाहिए, जहाँ जीवन-सम्बन्धी ममता एवं आशक्ति की पहुँच नहीं होती। शास्त्र ने कहा भी है—

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।

साधु अपने शरीर को भी अपना नहीं समझते। शरीर रहे, भले रहे और जाय, तो भले जाय, उनके लिए दोनों बातें एक-सी हैं।

पाकिस्तान से आने वाले ओसवाल भाइयों ने एक घटना सुनाई थी। उनके घर के पास ही एक मुसलमान का घर था। उसमें एक बूढ़ा और एक बुढ़िया कुल दो प्राणी रहते थे। वे हम लोगों को अपने बच्चों के समान समझते थे। जब गड़बड़ हुई और हमला होने का अंदेशा हुआ, तो हमारे घर की महिलाओं को उन्होंने अपने घर में छिपा लिया। वे बोले—हमला तुम्हारे घर पर होगा और हमारे घर पर सब सुरक्षित रह जायेंगी। हमला करने वाले गुण्डे आये। उन्होंने पूछा—कहाँ हैं तुम्हारे घर की औरतें और लड़कियाँ? हमने उनसे कह दिया—यहाँ नहीं हैं। वे पड़ोसी मुसलमान के घर पहुँचे। उससे पूछा—तुमने

जिन हिन्दू औरतों को छिपा रक्खा है, वे कहाँ हैं ? सच्ची-सच्ची कह दो।

बुड्ढ़े और बुढ़िया ने जबाब दिया—हम खुदा की कसम खाकर कहते हैं कि यहाँ कोई हिन्दू औरतें नहीं हैं।

हमलावर सहज ही मानने वाले नहीं थे। उन्होने धमकी देते हुए कहा—देखो, अपना जान जोखिम में मत डालो। बता दो, तुम्हारे घर में वे छिपी हैं।

बुड्ढ़ा उस समय कुरान का स्वाध्याय कर रहा था। उसने कुरान हाथ में लेकर कहा—देखो, हमारे लिए कुरान से बढ़कर तो और कोई नहीं है, मैं इसे उठाकर कहता हूँ कि यहाँ कोई हिन्दू औरतें नहीं हैं।

कहिए, उस बुड्ढे ने कितना बड़ा असत्य बोला ? उस असत्य के लिए आपका हृदय क्या कहता है ? बूढ़े की सराहना करता है अथवा अवहेलना करता है ? उसे आप दंड देना चाहेंगे या शाबाशी देना चाहेंगे ? उसके लिए जन्नत का दरवाजा खुलेगा या दोजख का ? कुरान उठाकर तो उसने गजब ही कर दिया है।

फौज आई और व्यवस्था कायम हो गई, तो उस बूढ़े ने स्त्रियों और लड़कियों को उनके हवाले कर दिया। बूढ़ा और बुढ़िया रोने लगे और कहने लगे कि कुरान को उठाकर झूठ बोलना पड़ा, यह बड़ा गुनाह हुआ है; फिर भी हमें विश्वास है कि खुदा माफ कर देगा, क्योंकि हम अपने और दूसरे के लिये सच्चे रहे हैं।

अगर बूढ़ा सत्य की मृगतृष्णा में पड़कर उन बहिनों और लड़कियों को बता देता, तो आप स्वयं कहते—बूढ़ा बेईमान था, धोखेबाज था, झूठा था।

इस रूप में, जैसी अहिंसा की मर्यादाएँ हैं, वैसी ही सत्य की भी मर्यादाएँ हैं। गृहस्थ इन मर्यादाओं के भीतर रह कर ही सत्य का पालन करता है।

अपनी स्वार्थ-लिप्सा के लिये बोला जाने वाला, दूसरों को ठग कर धन कमाने के लिए बोला जाने वाला, महल-मकान आदि भोगोपभोग-सामग्री के लिए बोला जाने वाला और परनिन्दा आदि के लिए बोला जाने वाला असत्य स्थूल असत्य है। जिसमें विवेक नहीं, करुणा नहीं, प्रशस्त संकल्प नहीं, फिर भी जो मिथ्या वचन बोला जा रहा है, वह स्थूलमृषावाद की कोटि में आता है। श्रावक इस प्रकार के असत्य का प्रयोग नहीं कर सकता और यदि वह करता है, तो अपनी प्रतिज्ञा को भंग करता है।

इस प्रकार विवेक के साथ सत्य का पालन किया जायगा, तो जीवन मंगलमय बन जायगा।